साहित्यिकों से

•

वि नो बा

•

अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
रा ज घा ट, का शी

प्रकाशक :
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
राजघाट, काशी

संशोधित और परिवर्धित संस्करण
चौथी बार : ५,०००
कुल छपी प्रतियाँ : ३०,०००
दिसम्बर, १९६०
मूल्य : एक रुपया

मुद्रक :
ओम्प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५७४६-१७

कलम के धनियों से

'ब्रह्माण्ड में जो है, वह सब साहित्यिकों की वाणी में आता है। परन्तु जो ब्रह्माण्ड में नहीं है, वह भी साहित्यिकों की वाणी में आता है'—ऐसी भावनावाले विनोबा साहित्यिक को ईश्वर से भी ऊँचा मानते हैं। उनकी मान्यता है कि साहित्यिक का लक्षण है—प्रेमभरा दिल और उसका मूलगुण है—सचाई।

और इन्हीं साहित्यिकों से विनोबा जब-जब मिलते हैं, तो अपील करते हैं कि आप तुलसी, कबीर, पोतना, तुकाराम के वारिस हैं, जो जन-समाज में काम करते थे और शरीर के लिए जो मिल जाता था, उसीसे सन्तुष्ट रहते थे। आप कुछ दिन हमारे साथ घूमने के लिए आइये। भूदान के सार्वजनिक यज्ञ में आपको भी अपना हिस्सा समर्पित करना चाहिए। फिर आपको साहित्य की जो भी प्रेरणा हो, उसके अनुसार आप हमें जो भी कृपा-प्रसाद दे सकते हैं, दें।

वागीश्वरों से वाग्दान की यह विनोबा की अपील खाली न जायगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

अनुक्रम



वागीश्वर वाग्दान दें

: १ :

'साहित्य' शब्द निरपेक्ष नहीं है। वह किसीके सहित जानेवाली चीज है। साहित्य तो जीवननिष्ठा के प्रकाशनार्थ होता है। जीवननिष्ठा और साहित्य, दोनों एकरूप होने चाहिए। वाणी और अर्थ की उपमा कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर से दी है। अर्थ याने जीवन और वाणी याने साहित्य। ये दोनों एक-दूसरे के बिना रह नहीं सकते। वाणी के कारण जीवन की प्रभा फैलती है। उनका सम्बन्ध सूर्य और किरण जैसा है। दोनों अभिन्न हैं, फिर भी प्रचारक का काम किरण ही करती है। साहित्य जीवन की प्रभा के रूप में प्रकट होता है।

राष्ट्र के साथ-साथ साहित्य भी उन्नति या अवनति करता है। उसी प्रकार साहित्य जीवन को भी उन्नत या अवनत कर सकता है। जीवन और साहित्य को उन्नत करनेवाले दो उदाहरण हम लोगों ने देखे हैं। पहला उदाहरण गांधीजी का है। गांधीजी वैसे कोई साहित्यिक नहीं माने जाते थे, फिर भी उनके प्रभाव के कारण हिन्दुस्तान की हर भाषा का साहित्य उन्नत हुआ है। दूसरा उदाहरण रवीन्द्रनाथ ठाकुर का है। उनकी सद्भावना और विश्ववृत्ति के कारण समाज ऊँचा उठा है। कवि जब महात्मा होते हैं, तब उनका असर जीवन पर पड़ता है।

कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ साहित्य और सत्य, दोनों एकत्र दीख पड़ते हैं, जैसे महर्षि व्यास। वे शब्द-निष्णात भी थे, व्यवहारवेत्ता भी थे, कर्मयोगी भी थे और समाज पर जब कभी आपत्ति आ जाती थी, तो वहाँ भी उपस्थित हो जाते थे। ऐसे दूसरे भी उदाहरण मिल सकते हैं। शंकराचार्य वैसे ही थे। उन्होंने कई प्रकार के ग्रन्थ लिखे। उनमें से कुछ तत्त्वज्ञान के हैं, कुछ आम जनता के लिए हैं तथा कुछ भक्तिपूर्ण हैं। शंकर एक महान् कर्मयोगी भी थे।

लेकिन एक ही व्यक्ति में दोनों गुण एकत्र हों, यह एक विशेष ईश्वरीय प्रसाद है। आम तौर पर एक ही गुणवाले लोग अधिक होते हैं। वे यदि एक-दूसरे के पोषक हों, तो वह बहुत बड़ी बात होगी। वाल्मीकि ने रामायण लिखी। रामचन्द्र न होते, तो वाल्मीकि न होते और वाल्मीकि न होते, तो रामचन्द्र न होते।

पावन शब्दों का प्रयोग

आपसे मैं आशा यह करता हूँ कि आप ऐसे शब्द-प्रयोग कीजिये कि जो पावन हों, मंगल हों, शान्तिदायी हों, जिनसे समाज को तुष्टि और पुष्टि भी मिले। जो आदमी तपस्वी नहीं है, चिन्तनशील नहीं है, उसके हृदय में महान् शब्द स्फुरित ही नहीं होते। ऋषि भले ही बड़ा कर्मयोगी न हो, तथापि यदि वह जीवननिष्ठ होगा, तो उसके शब्द प्रेरणा देंगे। कभी-कभी सामान्य लोगों को भी महान् शब्द स्फुरते हैं। लेकिन वे उनके हृदय में टिकते नहीं। पर ऋषियों के मुख से प्रेरित शब्दों की गंगोत्तरी होती है। उससे गंगा बनती है। सामान्य लोगों का छोटा-सा झरना मात्र रह जाता है।

विविधता रहे, भेद मिटें

हम तो चाहते हैं कि सारा समाज सौहार्द से भरा हो। मेरा काम तो उसमें निमित्तमात्र है। समाज में तरह-तरह के भेद हैं। लोगों में अगर सौहार्द होगा, तो उससे विविधता में भी एक सुरीला संगीत पैदा होगा। मैं भेदों के विरुद्ध तो प्रचार कर रहा हूँ, लेकिन विविधता को मिटाना नहीं चाहता। विविधता अगर मिट जायगी, तो जीवन ही नीरस बन जायगा। मैं 'वर्ग-विरोध', 'संघर्ष' आदि शब्दों से कुछ अलग तरह के शब्द निकाल रहा हूँ। परमेश्वर ने जो पंचमहाभूत, पंचतत्त्व बनाये हैं, उन्हें मैं एक समझता हूँ। उनमें मुझे कोई वर्ग नहीं दीखता।

मुझे सौहार्द की खोज में 'भूदान' शब्द हाथ लगा है और वह अच्छा चल रहा है। अभी एक भाई ने कहा कि 'भूदान' से हरएक के दिल में

सहानुभूति पैदा होती है। परमेश्वर की कृपा से मुझे शब्द ही ऐसा मिल गया, जो बहुतों को समान भूमिका पर ला सका है। उसमें शान्तिवादी और क्रान्तिवादी, दोनों प्रकार के लोग इकट्ठे हो रहे हैं। जहाँ काली यमुना और शुभ्र गंगा एकत्र होती है, वहाँ प्रयाग का संगम होता है। भूदान-यज्ञ भी प्रयाग के समान संगमात्मक कार्यक्रम बन रहा है। उसमें प्राचीन और अर्वाचीन सभ्यता का भी संगम है।

वाग्दान की माँग

मैंने 'विदर्भ साहित्य-सम्मेलन' को सन्देश दिया था कि आप मुझे 'वाग्दान' दीजिये। वही माँग मैं आपसे कर रहा हूँ। राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी ने भूदान के लिए शक्तिशाली शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी इस अपील के कारण और भी कई सहृदय कवियों को स्फूर्ति मिली है।

एक कवि जब कहता है—'भूमिदान-यज्ञ हम सफल बनायेंगे', तब इसका असर लोगों पर बहुत ही गहरा पड़ता है। लोग जब यह गाते हैं, तब स्पष्ट पता चलता है कि अब नवीन युग का उदय हो रहा है।

कुछ लोग सूर्योदय के कारण जागते हैं। कुछ लोग चिड़ियों के गाने से जागते हैं। उसी प्रकार लोगों को जगाने की शक्ति वाणी में, साहित्य में, सारस्वत में है। उस शक्ति का उपयोग मैं आपसे इस काम के लिए चाहता हूँ।

मैंने यह काम नम्रतापूर्वक शुरू किया है। मैं यह नहीं मानता कि इस काम के लिए मुझसे अधिक शक्तिशाली वाहन दुनिया में नहीं है। लेकिन ईश्वर की योजना कुछ ऐसी विचित्र और नाटकीय है कि उसने कृष्णावतार में गोपालों से काम लिया, रामावतार में वानरों से काम लिया। उसी प्रकार वह मुझ जैसे तुच्छ लोगों से काम ले रहा है। वही मुझे शब्द-शक्ति आदि देगा। मुझे इस बात का बहुत भान है कि मैं इस काम के लिए बहुत बड़ा कमजोर औजार हूँ।

अगर हम अहंकार छोड़ दें, तो हमारी नाचीज वस्तु भी शक्तिशाली बन जायगी। अगर हम अहंकारशून्य—बाँस की पोली नली की तरह—बन सकें, तो परमेश्वर हमें लेगा और हमारी मुरली बनाकर उसे बजायेगा! यद्यपि निरहंकार बनना भी आसान काम नहीं है, तथापि शक्तिशाली बनने की अपेक्षा वह कम मुश्किल है। इसलिए मैंने तय किया है कि अहंकार को छोड़कर सबको परमेश्वर समझकर उनसे माँगूँगा।

मैं वाग्वीरों से वाग्दान की माँग करता हूँ।*

●●●

---

* 'राष्ट्रकवि परिषद्', काशी के सदस्यों के निमित्त काशी-विद्यापीठ में तारीख ३१-८-'५२ को किया गया प्रवचन।

साहित्यिक का लक्षण : प्रेमभरा दिल : २ :

चिन्तन की एक शक्ति होती है, जो आत्मा की गहराई में जाकर विश्व की सूक्ष्मता में प्रवेश करके जीवन के सिद्धान्तों का शोध करती है। इस चिन्तन-शक्ति के अभाव में समाज लूला बन जायगा, प्रगति रुक जायगी। भौतिक, वैज्ञानिक संशोधनों के लिए जिस प्रकार [illegible] की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक संशोधनों के लिए भी एकान्त सेवन करना पड़ता है। ऐसे एकान्त से भी, जो ब्रह्मर्षि होते हैं, वे संसार को जीवन के तत्त्वज्ञान का चिन्तनात्मक सार देते हैं, जिसमें जीवन की समस्याओं का हल रहता है।

समाज-सेवक : राजर्षि

दूसरी शक्ति सेवा की होती है। ब्रह्मर्षियों द्वारा प्राप्त चिन्तन-शक्ति के आधार पर समाज-सेवक लोक-सेवा में रत रहते हैं, जिन्हें 'राजर्षि' कहते हैं। ऐसे सेवा करनेवाले सेवक समाज में न रहें, तो समाज का न केवल एक अंग ही क्षीण हो जायगा, अपितु सारा समाज शुष्क हो जायगा।

इस तरह की समाज-सेवा करनेवाले विचारक समाज में आवाज बुलन्द करते हैं। आन्दोलन की जरूरत हो, तो आन्दोलन खड़ा करते हैं। संगठन की जरूरत हो, तो संगठन बनाते हैं और अगर कभी लोगों की इच्छा से सत्ता ग्रहण करनी पड़े, तो वैसा भी करते हैं। सत्ता ग्रहण करनेवाले ये लोग केवल सेवापरायण होते हैं। उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता। इधर ब्रह्मर्षियों से वे विचार लेते हैं, उधर समाज सेवा के क्षेत्र में उन पर अमल करते हैं। पुरानी परिभाषा में उन्हें 'राजर्षि' कहते हैं। ज्ञानपूर्वक, लोकरंजन करते हुए लोक-सेवा में लगे हुए ये राजर्षि भी समाज की एक बड़ी शक्ति हैं।

निर्विकार, कुशल साहित्यिक : देवर्षि

तीसरी शक्ति साहित्य की है। जिन विचारों का ज्ञानियों को अनुभव होता है और जो आत्मा की गहराई में सिद्ध हो चुके होते हैं, उन विचारों को ऐसे चुने हुए शब्दों में वे ज्ञानी प्रकट करते हैं। लोक-वाणी में लोग उन्हें ग्रहण कर सकें. इसमें विचार को तो पहचानना पड़ता ही है, लेकिन उस विचार को वाणी का बाना पहनाना पड़ता है, वरना उचित शब्दों के अभाव में, प्रकाश के बजाय अप्रकाश भी हो सकता है। विचार तो अन्तर की गहराई में होता है। जब उसे प्रकट करने जाते हैं, तब किसी एक शब्द का सहारा लेना पड़ता है। तब कुछ न्यूनता रहने का भाव होता है। दूसरा शब्द इस्तेमाल करें, तो कुछ अतिरिक्त भाव भी प्रकट हो सकता है। दोनों का प्रयोग करें, तो कोई विपरीत भाव भी प्रकट हो सकता है। इसलिए एक-एक शब्द के बारे में विवेक रखना पड़ता है, ताकि न न्यून भाव प्रकट हो, न अतिरिक्त भाव, न विपरीत भाव। इन त्रिविध दोषों को टालकर विचार ठीक जैसे का तैसा प्रकट कर सकना चाहिए। यह तीसरी शक्ति (जनता के हृदयों तक विचार पहुँचाने की कुशलता की शक्ति) जिनमें होती है, उन्हें 'देवर्षि' कहते हैं।

ब्रह्मर्षियों की मिसाल देनी हो, तो हम वशिष्ठ-याज्ञवल्क्य के नाम ले सकते हैं। देवर्षियों में नारद प्रसिद्ध ही हैं। राजर्षियों में जनक महाराज सुप्रसिद्ध हैं, जो निरन्तर जन-सेवा में लगे रहते थे। यह जरूरी नहीं है कि ऐसे लोग राजा ही हों। वे लोगों की सेवा में लीन हैं, इतना काफी है।

साहित्यकारों की साधना का पथ

इस तरह साहित्यकारों को लोक-हृदय के अनुकूल परिपूर्ण शब्द प्रकट करने की कुशलता साधनी चाहिए, अर्थात् सम्यक् , मधुर और कुशल, तीनों तरह की वाणी बोलना, जिसमें न्यून, अतिरिक्त और विपरीत भाव न हों, एक महान् साधना है, जो उसीको सधती है, जिसके अपना निज का कोई विकार न हो। जो निज का विकार रखता हो, वह इस तरह की

सम्यक् वाणी नहीं प्रकट कर सकता। थर्मामीटर को खुद का बुखार नहीं होता, इसलिए वह दूसरों का बुखार नाप सकता है। जिसको खुद का बुखार होता है, वह दूसरे का बुखार नहीं नाप सकता। इसी तरह जिसे खुद का कोई विकार न हो, वही दूसरों के लिए सम्यक् वाणी दे सकता है। जिसको खुद का विकार हो, वह निर्विकार विचार दे नहीं सकता।

तीन ऋषियों के तीन महान् लक्षण

नारद सबसे मिलते थे। देव, दानव, मानव, सब लोगों में हो आते थे। तो यह जो दिव्य-शक्ति वाक्-प्रचार की है, वह उसीको सधती है, जिसके पास उत्तम भक्ति हो। जैसे, ब्रह्मर्षि का लक्षण चिन्तन-शक्ति है, राजर्षि का लक्षण उसकी निरहंकार सेवा-भावना है, वैसे ही देवर्षि का लक्षण है—सबके लिए प्रेम से भरा हुआ दिल। सबके विचारों को परखने के लिए बुद्धि की तटस्थता, वाणी की निर्विकारता और अपने बारे में निरहंकारिता जरूरी है। जहाँ सूक्ष्म बुद्धि से मनन करके वाणी का उपयोग किया जाता है, वहाँ सब तरह की शोभा, ऐश्वर्य, वैभव, सौन्दर्य और आनन्द की वृद्धि होती है।

साहित्य की शक्ति का स्रोत

किन्तु जिस देश में लोग असम्यक् वाणी प्रकट करते हैं, जो जी में आया लिख डालते हैं, और चूँकि सम्पादक बने हैं, इसलिए किसी भी तरह का क्यों न हो, शीघ्र प्रकाशन पसन्द करते हैं। सारांश, किसी भी तरह कालम भरने की जिम्मेदारी पूरी कर देना पर्याप्त समझते हैं, समय और स्थान की कोई भी पाबन्दी महसूस नहीं करते। जिस देश में इस तरह वाणी का दुरुपयोग होता है, उस देश में लक्ष्मी स्वप्नवत् रहनेवाली है। अगर आपको मनन करने के लिए अवसर नहीं मिलता है, तो एक कालम कोरा रखा जा सकता है। यह तो मैंने सहज ही कह दिया। मैं जानता हूँ कि हिन्दुस्तान के अखबारवाले कुल मिलाकर काफी विवेकी हैं। हिन्दुस्तान की तालीम की सतह ध्यान में रखते हुए यही कहना होगा कि हमारे

अखबारवाले काफी संयम रखते हैं। संयम तो हमारी संस्कृति में ही पड़ा है। ऋग्वेद में बताया है कि सत्ययुक्त और मननयुक्त वाणी, जो नित्य मधुर, [illegible], [illegible] हो, तो उससे एक बड़ी भारी शक्ति प्रकट हो सकती है।

हमारे यहाँ के साहित्य में जो सद्विचार जिस तरह प्रकट हुआ है, उस तरह शायद ही दूसरी जगह हुआ हो। इस देश में ब्रह्म-विचार का मनन हुआ, इस देश में जनक और अशोक जैसे महान् सेवक हुए, व्यास, वाल्मीकि और शुक जैसे अद्वितीय कवि और विचारक हुए और उनकी परम्परा यहाँ चली। उनका संदेश अनेक भाषाओं में प्रकट हुआ। एक बहुत बड़ा आदर्श हमारे सामने उन्होंने रखा।

साहित्यिकों से निवेदन

आज हमारे सामने जो समस्याएँ हैं, वे छोटी नहीं हैं, और हमारे देश को जो मौका मिला है, वह भी छोटा नहीं है। हमारे देश ने एक दूसरे ढंग से आजादी हासिल की है, इसलिए सारी दुनिया को इस देश से एक विशेष आशा है। उसका खयाल रखकर अगर यहाँ के साहित्यिक चिंतन करेंगे, तो वे बहुत बड़ी सेवा कर सकेंगे। इस जमाने में भी हमारे देश ने अरविंद घोष जैसे ब्रह्मर्षि, रवि ठाकुर जैसे देवर्षि और गांधीजी जैसे राजर्षि पैदा किये। ऐसे महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित हैं। उन सबको ध्यान में रखकर जिस तरह देश की शोभा बढ़े, ऐसी साहित्य-सेवा हमारे साहित्यिक करेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूँ। बहुत बड़ी शक्ति हमारे पास है, क्षेत्र भी उतना ही बड़ा है। हमारे अंदर आत्मा है, बाहर यह सारा विश्वरूप है। देहरी द्वार की तरह वाणी दोनों के बीच खड़ी है, उस पुल की तरह, जो नदी के दोनों किनारों को जोड़ता है।

काशी-विद्यापीठ
१३-७-'५२

मैं अपने को साहित्यिक नहीं मानता। वैसे साहित्य के लिए मेरे मन में प्रेम है और परमेश्वर ने मुझे हिन्दुस्तान को सब भाषाओं के और प्राचीन भाषाओं के साहित्य से परिचय प्राप्त करने का अवसर दिया है। वेदों से लेकर आज तक का जो विचार-प्रवाह है, उसमें शब्द के ख्याल से नहीं, विचारों के ख्याल से मैं परिचित हूँ। उस विचारधारा में जो अच्छाइयाँ हैं, उनके प्रति मेरा प्रेम है। पश्चिम का साहित्य भी मैंने देखा है।

दो प्रकार का साहित्य

आपके सामने यह भाषण भी कार्यवश दे रहा हूँ। यह व्याख्यान केवल अहेतुक नहीं है, उसके पीछे हेतु है। सम्भव है कि साहित्य हेतुयुक्त हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। भगवद्गीता ने दो प्रकार के साहित्य का जिक्र किया है। एक तो वह कि स्फूर्ति हुई और उनके मुख से सूक्तों द्वारा वेद प्रकट हुआ और दूसरा वह साहित्य, जो हेतुयुक्त होता है।

मेरा दावा साहित्यिक होने का नहीं है, परन्तु मैं जो बोलता हूँ और करता हूँ, उसमें सदिच्छा और सद्भाव रहता है। इसलिए उसकी अच्छे साहित्य में गिनती हो सकती है। साहित्यिकों से मेरा प्रेम रहा है और उनकी मुझ पर कृपा भी रही है। मैं उनकी कद्र करता हूँ। मैं मानता हूँ कि सामाजिक जीवन में उनका स्थान ऊँचा है, इसलिए मैंने साहित्यिकों को 'देवर्षि', कहा है।

सहज प्रेरणा

साहित्य आत्महेतु के लिए होता है, परमेश्वर के लिए होता है और अहेतुक भी होता है। कुल मिलाकर साहित्यिकों से बोले बगैर, लिखे

और कहा नहीं जाता। उन्हें सहज प्रेरणा होती है, अन्तःस्फूर्ति होती है; जैसे, झरना सहज बहता है, सूरज सहज प्रकाश देता है। सूरज को भान नहीं होता कि वह प्रकाश दे रहा है। उसी तरह देवर्षि स्वाभाविक रूप से बोलेंगे, गायेंगे। हेतुपूर्वक बोलेंगे, तो भी गायेंगे। साहित्यिकों का स्थान बहुत ही ऊँचा है। 'भगवद्गीता' का मतलब है—भगवान् की गायी हुई चीज। इसलिए साहित्यिकों का जीवन में विशेष स्थान है।

इस जमाने में भी ऐसे देवर्षि हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर देवर्षि थे। जो बड़े होते हैं, प्रसिद्ध होते हैं, वे ही अच्छे और उत्तम साहित्यिक होते हैं, ऐसी बात नहीं है। वे तो अच्छे हैं ही, परन्तु उनसे भी बढ़कर वे हो सकते हैं, जिन्हें लोग जानते नहीं। सूरज की सात प्रकार की किरणें हम जानते हैं, परन्तु जो 'अल्ट्रावायोलेट' और 'इंफ्रारेड'—जैसी किरणें होती हैं, उन्हें हम देख नहीं सकते, परन्तु उनका लाभ मिलता है। इस तरह जो सूर्य-किरणें प्रकट होती हैं, उनसे भी वे किरणें अधिक उपकारक होती हैं, जो प्रकट नहीं होतीं। इसलिए दुनिया को जिनकी पहचान हुई है, वे उतने महान् नहीं थे, जितने महान् वे थे, जिनकी दुनिया को पहचान नहीं हुई। भगवान् बुद्ध, ईसा आदि महान् व्यक्तियों की महिमा दुनिया गाती है। वे महान् थे, इसमें कोई शक नहीं। परन्तु उनके भी कोई गुरु थे, जिनके नाम सिर्फ वे ही जानते हैं, दुनिया नहीं जानती। इसलिए हम उनकी योग्यता नहीं नाप सकते, क्योंकि हम उनको जानते नहीं। उनके संकल्प में ऐसी शक्ति थी कि उससे काम हो गये। कभी-कभी वे अव्यक्त रूप से हमें प्रेरणा देते हैं और हमको वेग मिलता है। किनसे वेग मिलता है, हमें मालूम नहीं होता, क्योंकि वे अव्यक्त रूप से काम करते हैं। दुनिया में वे ही अधिक महान् और उच्च कोटि के हैं।

चिन्या ने पत्थर फोड़ा

मुझे बचपन का एक किस्सा याद आता है। हमारे घर में पत्थर फोड़ने का काम चल रहा था। मैं काम देखने जाता था। कभी-कभी मैं कहता था कि मैं भी फोड़ना चाहता हूँ। वे लोग मुझे ऐसा पत्थर फोड़ने

के लिए देते थे कि जो टूटने की तैयारी में होता था। मैं ज्यों ही अपनी छोटी-सी हथौड़ी से उस पर आघात करता, त्यों ही वह टूट जाता था। तब सब लोग कहते थे, "विन्या ने पत्थर फोड़ा।" उसी तरह दुनिया में वे लोग होते हैं, जिनका नाम दुनिया जानती है, लेकिन जिनको दुनिया जानती नहीं, वे सूक्ष्म अवस्था में रहते हैं। 'चिन्तन-मनन' करना और उसके अनुसार जीवन बनाना, यही उनका काम होता है। उनकी महत्ता को हम पहचानते नहीं, परन्तु वे विचार को उतनी दूर तक लाते हैं कि जिसके आधार पर दुनिया में आगे कोई उस विचार को प्रसिद्ध करता है। शंकराचार्य का नाम दुनिया लेती है। दुनिया उनको बड़ा अद्वैतवादी मानती है, परन्तु अद्वैत में तो वे बच्चे थे। उनके पहले कितने महान् अद्वैतवादी हुए थे, जिनका नाम नहीं हुआ। नाम शंकराचार्य का हुआ, क्योंकि वे अपनी छोटी-सी हथौड़ी से पत्थर फोड़नेवाले 'विन्या' के जैसे थे।

बुनियाद के पत्थर

'रघुपति कीरति विमल पताका,
दंड समान भयउ जस जाका।'

रघुपति की जो विमल पताका दीख रही है, उसके आधारस्वरूप लक्ष्मण थे। हम कहते हैं, "झंडा ऊँचा रहे हमारा।" कोई यह नहीं कहता, "डंडा ऊँचा रहे हमारा।" परन्तु डंडे के बिना झंडा ऊँचा नहीं रह सकता। नाम तो झंडे का ही होता है, डंडे का नहीं। लक्ष्मण डंडे के समान खड़ा था, कभी झुका नहीं। तुलसीदासजी ने उसके यश की महिमा पहचानी और प्रकट की। स्वयं लक्ष्मण ही कबूल नहीं करेंगे कि वे रामजी से बढ़कर थे, लेकिन रामजी उन्हें वैसा मानते थे। रामजी लक्ष्मण से कहते हैं कि अगर तू न होता, तो मेरी क्या दशा होती! जिस समय लक्ष्मण को बाण लगा, उस समय रामजी यह कहकर रोये कि अब मेरा क्या होगा! सारी लीला उन्हींकी थी। लक्ष्मण भी उनकी लीला का ही

भाग था। इसलिए यह तुलना यहाँ पर लागू नहीं होती, परन्तु ऐसे मिसालें देखने को मिलती हैं। बुनियाद को कोई नहीं देखता। सब ऊपर का मकान देखते हैं। बुनियाद के पत्थरों की अपनी महिमा होती है। फिर भी कोई यह नहीं कहता कि इस मकान की बुनियाद कितनी अच्छी है। हाँ, कोई मकान पाँच सौ साल पुराना हो, तो शायद लोग उसकी बुनियाद की ओर ध्यान देंगे। लेकिन आज तो ऊपर की चीजें ही देखी जाती हैं। जिनके नाम हम जानते हैं, वे जुगनू हैं, वे जुगनू के जैसे होते हैं और जिनके नाम हम नहीं जानते हैं, वे ज्योति जैसे होते हैं। मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम लिया था। परन्तु कई महान् व्यक्ति ऐसे होंगे, जो अनामिक रह गये।

भव्य कल्पना

'विष्णुसहस्रनाम' में भगवान् के सब नाम एकत्र करके एक भव्य कल्पना की सृष्टि हुई है। वह एक बड़ा अद्भुत ग्रन्थ है। उसमें भगवान् के लिए इस प्रकार के दो शब्द आये हैं—'शब्दातिगः शब्दसहः।' अर्थात्—वह शब्द के उस पार होता है, परन्तु शब्द को सहन करता है। जिन्होंने सूक्ष्म विचार किया, उनका यह अनुभव है कि वाणी में न मालूम क्या-क्या प्रकट होता है! कभी-कभी विपरीत भी प्रकट होता है। वाणी में सम्यक् प्रकट होना कठिन है। इसलिए उत्तम-से-उत्तम साहित्यिकों की वाणी जो प्रकट हुई है, वह भगवान् ने सहन कर ली है। उससे कोई बात प्रकट नहीं हुई। फिर भी कुछ प्रकट हुआ।

अन्तःप्रेरणा

कालिदास ने अज-विलाप का जो वर्णन किया, उसे सुनकर हृदय गद्गद हो जाता है, लेकिन किसी माँ का लड़का मर जाता है, तो माँ ऐसी रोती है कि दूसरों को रुलाती है। आखिर कालिदास ने क्या किया? इतना ही किया न कि शब्दों द्वारा शोक प्रकट किया? लेकिन अगर उस माँ से लिखने के लिए कहा जाय, तो भी उससे लिखा नहीं जायगा। वह माँ यदि कवि है, उसके हाथ में हमने कलम रख दी और उससे कहा

कि कुछ तो लिखो, अपना दुःख नाहक न जाने दो, तो भी वह उस समय नहीं लिख पायेगी, बाद में चाहे लिख सके, जब वह उससे अलग हो जायगी। जिस भावना में हम होते हैं, उसको प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है। जिनसे लिखे बगैर नहीं रहा जाता, वे ही साहित्यिक हैं।

राम-नाम का रस

हम आपको आज्ञा नहीं दे सकते कि आप भूदान के गीत गायें। आपको जो सूझेगा, वही आप गायेंगे। हम आपसे सिर्फ इतना ही कहेंगे कि आपके सामने जो कुछ हो रहा है, वह एक क्रान्ति का काम है। हम तो उसमें भगवान् का एक खेल देख रहे हैं। उसमें ऐसे दृश्य दीखते हैं, जिससे हमको तो स्फूर्ति होती है। इस विषय पर आज तक हमारे कई व्याख्यान हुए, परन्तु हमारा इसमें रस कम नहीं होता, जैसे राम-नाम लेने में कभी कम नहीं होता है, वैसा ही रमणीय और कमनीय यह विषय हमें मिला है। भगवान् ने हमें जो वाक्शक्ति दी है, उसको इसमें पूरा अवकाश मिलता है। भगवान् ने किसी एक के हृदय को ही यह धर्म दिया है, ऐसी बात नहीं है। दुनिया में कुछ समानधर्मा होते हैं और कुछ विशेषताएँ भी होती हैं। समानधर्मियों में, आपमें किसीको अगर सहज स्फूर्ति हुई, तो आप इस विषय को छेड़िये।

स्फूर्ति का प्रश्न

बापू ने रवीन्द्र से प्रार्थना की थी कि वे जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड पर कुछ लिखें। उन्होंने कहा, "मुझे अभी स्फूर्ति नहीं हुई है।" ऐसा हो सकता है। उत्तम-से-उत्तम स्फूर्ति का विषय होने पर भी किसीका स्वभाव ऐसा हो सकता है कि उसे वह छूता नहीं। इसलिए हम यह नहीं कहेंगे कि आप साहित्यिकों का यह धर्म है कि आप भूदान पर लिखिये, परन्तु सहज स्फूर्ति हो जाय, तो यह एक लिखने लायक विषय है, इतना ही हम कहना चाहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि आपको तो ऊबड़-खाबड़ जमीन ही मिलती है। तो मैं जवाब देता हूँ कि भगवान् ने रुक्मिणी को स्वीकार किया,

इसमें भगवान् की कोई विशेषता नहीं। उन्होंने कुब्जा को स्वीकार किया, इसीमें उनकी विशेषता है। इसलिए मुझे ऊबड़-खाबड़ जमीन मिलती है, तो मैं उसे उर्वरा बनाऊँगा। मैंने आश्रम में खेती का प्रयोग करते समय अपने साथियों से कहा था कि कुछ तो खराब जमीन लेकर प्रयोग करो, तभी देश की सेवा होगी। भूदान-यज्ञ में हम देख रहे हैं कि लोग किस तरह अपने जिगर के टुकड़े देते हैं। कइयों ने शबरी के बेर अर्पण किये हैं। मेरे लिए यह सारा विषय स्फूर्ति का है।

आपमें से जो समानधर्मा होंगे, उनसे मैं कहूँगा कि आप इसका निरीक्षण कीजिये और शब्द में लाने का प्रयत्न करने की प्रेरणा हुई, तो कीजिये। अगर इसमें कोई मल दीख पड़े, तो इसे निर्मल बनाइये। विरोधी कल्पनाएँ भी प्रकट कीजिये। भट्ठी में डालने पर स्वर्ण अपना गुण दिखाता है, इसलिए आपके मन में जो कुछ आये, उसे प्रकट कीजिये।

हमारे साथ घूमिये

साहित्यिकों के साथ बातचीत करने का समय मिलता है, तो बहुत खुशी होती है। साहित्यिकों में जितनी विविधता होती है, उतनी और कहीं नहीं होती। जैसे, सृष्टि में हर प्राणी अपने-अपने ढंग का होता है, वैसे ही साहित्यिकों की सृष्टि भी विचित्र होती है। हमारे देवता भी विचित्र होते हैं। कोई तुलसी-दल से प्रसन्न होता है, तो कोई बिल्व-पत्र से; कोई नंदी पर बैठता है, कोई मोर पर, तो गणपति चूहे पर। आप साहित्यिकों का देव तो गणपति है। इसलिए आप भी किस चूहे पर बैठेंगे और आपका मन कहाँ रमेगा, कोई नहीं जानता। हो सकता है कि आपको नंदी, गरुड़, मोर आदि का आकर्षण न हो और चूहे का ही आकर्षण हो। फिर भी हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप कुछ दिन हमारे साथ घूमने के लिए आइये। आपकी संगति से हमें भी आनंद होगा।

पटना (बिहार)
२३-१०-'५२

साहित्यिक का मूल गुण : सचाई : ४ :

साहित्यिकों में कई गुण होते हैं, जिनसे वे परिपूर्ण होते हैं। और कुछ गुण हो या न हो, मूलभूत गुण तो उनमें होना ही चाहिए, जिसके बिना वे साहित्यिक नहीं हो सकते। वह है—सचाई। साहित्यिक सच्चा होना चाहिए। वह सच्चा सत्पुरुष हो या सच्चा दुर्जन। सच्चा सत्पुरुष हो, तो सोने में सुगंध आ जायगी। अगर दुर्जन हो, तो सच्चा दुर्जन हो, भीतर और बाहर से दुर्जन हो, तब जीवन-शाला में शिक्षण पा सकता है। जीवन ऐसी शाला है, जिस पर चलते ही जाओ, चाहे सीधे रास्ते पर चलो या काँटे के रास्ते पर। अनुभव से ज्ञान प्राप्त होता है, यही खूबी है। सन्मार्ग पर चलो या कुमार्ग पर, साहित्य का निर्माण होता ही है। आप जानते हैं, दुनिया का सबसे श्रेष्ठ और सुन्दर साहित्य एक बदमाश ने लिखा है, जिसका नाम है वाल्मीकि। वाल्मीकि कवि-सम्राट् हैं, इसमें शंका नहीं। आप जानते हैं, वे एक महान् दुर्जन थे। मनुष्य की हत्या पर जीवन चलाते थे, लेकिन उनका जीवन सीधा और सच्चा था, अन्दर से और बाहर से उसमें कोई फर्क नहीं था।

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जो चाहसि उजियार॥

—"अन्दर और बाहर प्रकाश चाहता है, तो जो जीभ है, वहाँ राम-नाम का दीप खड़ा कर दे।"

वाणी एक ऐसा साधन है, जो बाहर और भीतर को जोड़ सकती है, लेकिन जिनके अन्दर एक और बाहर दूसरा होता है, उनकी वाणी निस्तेज बनती है। उसका समाज पर असर नहीं होता। समाज के सामने जो सीधी बातें बोलता है, उसका असर होता है।

अनुभव और वाणी

कालिदास ने 'विलाप' लिखा है। जिसका पति मर गया, बच्चा मर गया, वह स्त्री विलाप करती है। उसे कोई सिखाता नहीं, वह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। जहाँ अनुभव आता है, वहाँ वाणी प्रकट होती है। यह बनावटी बात नहीं, अनुभव की बात है। वह बच्चे के मरने का अनुभव करती और अपना शोक प्रकट करती है। किसी माँ के बारे में ऐसा नहीं सुना कि उसने विलाप इसलिए नहीं किया कि उसने किसी कॉलेज में तालीम नहीं पायी थी और बच्चा बिना विलाप के चला गया।

आप सब बालक ध्रुव को जानते हैं। छोटा-सा बालक था। जंगल में तपस्या करने गया था। उसके सामने साक्षात् परमेश्वर खड़े हो गये। यह देखकर वाणी निकली नहीं, उसे कुछ सूझा नहीं। आखिर बच्चा ही तो था। कहते हैं कि भगवान् ने अपने शंख का स्पर्श उसके गाल से किया। स्पर्श होते ही वाणी प्रकट हुई—

'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्ताम्'—ऐसा दिव्य श्लोक वह बोल गया। वह दिव्य-वाणी थी। उसने जो दृश्य देखा, उसका परिणाम हुआ और उसके प्रभाव से ऐसी वाणी निकली। भगवान् को देखकर वह प्रसन्न हो गया। जहाँ प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वहाँ वाणी प्रकट होती है। कोई मुत्सद्दी लोग अन्दर एक और बाहर दूसरा दिखाते हैं। वे दुनिया को चाहें तो ठग लें, पर अपने-आपको नहीं ठग सकते, इसीलिए वे अपने को प्रकट भी नहीं कर सकते।

परमेश्वर के सामने सब खोल दीजिये

अन्दर और बाह्य में भेद रखनेवाले व्यक्ति काव्य नहीं लिख सकते, वैसे किताब के पन्ने-पर-पन्ने भले ही भरते जायँ। 'इंडियन पिनल कोड' लिखनेवाले को कभी कोई काव्य सूझता भी है? कविता का रस वहाँ प्रकट होता है, जहाँ वह अन्दर-बाहर एकरस हो जाता है। वहाँ तो पवित्र गंगा बहती है। इसलिए मैंने कहा कि अगर कोई मनुष्य बुरा है, तो

उसे सचमुच बुरा होना चाहिए। पर बुरे भी सच्चे बुरे नहीं होते हैं, ढोंग करते हैं। गीता ने कहा है, 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।' यह रजोगुण है। मेहनत करके वह अपनी जगह पर बैठ जाता है, क्योंकि उसका सारा जीवन दम्भ से भरा रहता है। लिबास करेंगे तो दम्भ से करेंगे, बोलेंगे तो दम्भ से बोलेंगे, स्वागत में भी ढोंग करेंगे। कई जगह हमें मान-पत्र दिये जाते हैं। हमें मालूम नहीं होता कि ये मान-पत्र हैं या अपमान-पत्र। हृदय का भाव उनमें नहीं रहता। अत्युत्तम शब्द लेकर लिखते हैं।

एक ग्रामीण आता और कहता है, "बाबा, आपके दर्शन से हमें बहुत खुशी हुई !" कितना अच्छा लगता है यह सुनकर, कितने सीधे होते हैं ये लोग ! मान-पत्र देनेवाले तो लम्बा-चौड़ा मान-पत्र देते हैं। संस्कृत के शब्द ढूँढ़-ढूँढ़कर उसमें लिखते हैं। आजकल सभी जगह यह दाम्भिकता आ गयी है। कोई आता है मेरे पास बात करने के लिए, बहुत बातें करता रहता है। मैं चाहता हूँ कि वह उठ जाय। जब उठता और कहता है कि "बाबा, मैंने आपका काफी समय ले लिया", तब मैं कहता हूँ, "नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।" क्या यह सचाई है ! ऐसा कहना चाहिए, "हाँ भाई, तुमने मेरा बहुत समय लिया, पर अब दुबारा ऐसी गल्ती मत करना।" असत् वर्तन में भी ज्यादा बुराई उसे ढँकने में है। अगर आप रोग को ढँकेंगे, तो डॉक्टर क्या मदद करेगा ! डॉक्टर के पास तो दिल खोल देना चाहिए। वैसे ही ईश्वर के सामने दिल खोलकर रखना चाहिए। सूरदास का यह वचन आपने सुना होगा :

'मो सम कौन कुटिल खल कामी।'

यह क्या काव्य लिखा ! उसने देखा, मेरे मन में बहुत दुर्गुण भरे हैं। लोग तो मुझे 'साधु' 'साधु' कहते हैं, पर जैसे-जैसे लोग मुझे 'साधु' कहते हैं, वैसे-वैसे मेरे मन में दम्भ भरता जाता है। इसलिए उसने आखिर भगवान् के सामने अपना दिल प्रकट कर दिया। घर को आग लगे और लोग उसे ठंडा-ठंडा बतायें, तो कैसे काम होगा ! मन में विकार है,

पाप है, मलिनता है और फिर भी लोग कहते हैं 'अच्छे' हैं। ये सारे पाप, विकार, मलिनता प्रकट हो जायँ, तो मनुष्य एक बार सज्जन बन सकता है।

अति-सज्जन और अति-दुर्जन का सम्मेलन होता है। उनका स्नेह-सम्मेलन होता है। कुछ लोग मन के भाव प्रकट नहीं करते। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ वाणी की चोरी होती है। मनु ने कहा है, "दस चोरी करनेवाले उतने दोषी नहीं, जितने दोषी वाणी की चोरी करनेवाले होते हैं।"

वाणी की चोरी

सारे अर्थ वाणी में से निकलते हैं। जिसने वाणी की चोरी की, उसने दुनियाभर की सारी चोरियाँ कर डालीं। सब कुछ प्रकट तो करो। जैसे डॉक्टर के पास सब खोलकर बताना होता है, वैसे ही परमेश्वर के सामने भी खोलकर रखना पड़ता है। परमेश्वर और कौन है? यह सारी जनता ही तो परमेश्वर है। उसके सामने सब कुछ खोलकर रखने की हिम्मत चाहिए। पाप-पुण्य जो कुछ हो, वह सब खोलकर रखना होगा

साहित्यिक का मूल गुण

साहित्यिक का मूलभूत गुण होता है—सच्चाई। जो बात मेरे दिल को जँचे और आपके दिल को न जँचे, उस पर मैं आपसे कविता नहीं लिखवा सकता। मेरे कहने से कोई कवि नहीं बनता। कवि तो स्वतन्त्र होता है। आप जानते हैं, महाभारत का बड़ा भारी युद्ध हुआ था। मसला जमीन का था। दोनों तरफ से दावे रखे गये और वैरभाव सबके दिल में आ गया। धर्मराज ने कहा, "हमें युद्ध नहीं चाहिए, अपना दावा हम छोड़ते हैं। हमारा पहला दावा था, पूरा राज्य दें, दूसरा दावा था, आधा राज्य दें, वह भी छोड़ते हैं। अब सिर्फ हमारी पाँच गाँव की माँग है, पाँच गाँव दीजिये।" श्रीकृष्ण ने दूसरे पक्ष के पास जाकर यह बात कही, "आपके पास पाँच लाख गाँव हैं, उनमें से सिर्फ पाँच गाँव उन्हें दे दीजिये।" दुर्योधन ने कहा, "नहीं भाई, सूच्यग्र याने सूई की नोक पर जितनी मिट्टी रहेगी, उतनी भी दावे के नाम पर नहीं देंगे। दावा न

करके भीख माँगें, तो मैं दे सकता हूँ। दान तो साधु-संतों को भी देते हैं।" इसी पर से झगड़ा हो गया।

दरिद्रनारायण का प्रतिनिधि

आज मैं लोगों के सामने अपना दावा रखता हूँ, दान माँगता हूँ, गरीबों का हक माँगता हूँ। सब जमीनें ईश्वर की है, ऐसा समझाता हूँ। अपने को मैं दरिद्रनारायण का प्रतिनिधि मानता हूँ। लोग मुझे जमीन दे रहे हैं, अच्छे भाव से दे रहे हैं, लेकिन मैं इतने से ही तृप्त नहीं होने वाला हूँ। मैं कहता हूँ, अच्छी जमीन दीजिये, परती भी दीजिये, अच्छी जमीन का छठा हिस्सा दीजिये। गरीबों से कहता हूँ—"जितनी देनी है, उतनी दीजिये।" बड़ों से मैं कहता हूँ, "अपने पास थोड़ी रखकर बाकी सब दे दीजिये। केवल लकड़ी से यज्ञ नहीं होता। यज्ञ के लिए घी भी चाहिए।" तो जो अच्छी जमीन है, वह घी है और जो परती जमीन है वह लकड़ी है। मुझे दोनों चाहिए। मैं ब्राह्मण हूँ, भिक्षा का मुझे हक है। लेकिन मैं ब्राह्मण के नाते नहीं, बल्कि दरिद्रनारायण के प्रतिनिधि के नाते माँग रहा हूँ और लोग दे रहे हैं।

यह माना गया है कि यह कलियुग है, लेकिन मैं इसमें सतयुग को देख रहा हूँ। मैंने सोचा कि लोग इसे 'कलियुग' क्यों कहते हैं। फिर मेरे ध्यान में आया कि कलियुग में सतयुग आ सकता है, कलियुग तो नाममात्र है। इतिहास देखने पर मुझे पता चला कि जो अच्छे-अच्छे युग माने गये हैं, उनमें भी बुरे लोग हुए हैं। इस कलियुग में भी महान् से-महान् सत्पुरुष हो गये। अब तो सतयुग आ रहा है। अगर आपको यह दर्शन हुआ, तो स्फूर्ति हो सकती है।

भगवान् का साक्षात्कार !

यहाँ अन्धों ने भी दान दिया है। वह रामचरण अन्धा ! जिस पड़ाव पर मुझे कम जमीन मिली थी, वहाँ उसने रात में बैलगाड़ी से आकर हमें दान दिया। सोये हुए लोगों को उसने जगाया। दान दिया और चला गया। मैं तो सोया था। दूसरे दिन मुझे लोग बता रहे थे, एक

अन्धा आया था, जो दान देकर चला गया। मैंने कहा, "वह अन्धा नहीं था, वह तो भगवान् था। उसे अन्धा कहनेवाला खुद ही अन्धा है।" ऐसे कितने ही किस्से हुए हैं। मेरे लिए तो वह भगवान् का साक्षात्कार है। मेरे लिए तो इसमें काव्य-ही-काव्य भरा हुआ है। उससे मुझे सहज ही स्फूर्ति होती है।

इस आन्दोलन में हमें कुछ लोग रद्दी जमीन देते हैं। जो यही देखेंगे, उनको काव्य कैसे सूझेगा? कुछ लोग लज्जा से भी देते हैं। कुछ अच्छी जमीन भी देते हैं। जो लज्जा से देता है, वह भी अच्छा ही है। इतना ही दर्शन जिन्हें होता है, उन्हें स्फूर्ति नहीं होगी। नदी में बाढ़ आती है, तो गन्दा पानी भी आता है और स्वच्छ, निर्मल पानी भी आता है। वैसे ही यह है। पर इसमें स्वच्छ, निर्मल पानी आ रहा है, यह देखकर आपको स्फूर्ति होगी, तो आप बहुत काम कर सकेंगे।

अनुभूति से काव्य-स्फुरण

'जहाँ न पहुँचे रवि, तहाँ पहुँचे कवि !'

कवि क्रान्तदर्शी होते हैं—इस पार का नहीं, उस पार का देखनेवाले। ग्रहण के दिन किसीने कहा—"ग्रहण होता है, तो क्या होता है, हम नहीं जानते। सूर्य पृथ्वी के बीच चन्द्र आता है, तो क्या हुआ, उसमें कौन-सी बड़ी बात है!" मैंने कहा—"तू अगर इस नदी में डूबेगा, तो क्या होगा? कौन शोक करेगा? तेरे पेट के और आसमान के बीच पानी आता है, तो क्यों चिल्लाता है!" दुनिया में ग्रहण जैसी घटना घटती है, तो चिन्तन के लिए मौका मिलता है। सूर्य का प्रकाश मन्द होता है, तो सोचने की बात होती है। जहाँ खग्रास ग्रहण होता है, वहाँ दुनिया के शास्त्रज्ञ दौड़-दौड़कर आते हैं। वे समझते हैं कि बड़ी भारी घटना घट रही है, क्योंकि वे लोग ज्ञानी होते हैं। जो ज्ञानी नहीं होते, उन्हें कुछ नहीं दीखता। सूर्य डूब रहा है और हम मौज-विलास में हैं, फुटबॉल खेल रहे हैं। वह तो ध्यान का समय होता है।

मैं जेल में था, बादशाह जैसा आनन्द था वहाँ। जेलर पूछने लगा—"आपको तो यहाँ कोई दुःख दीखता नहीं!" मैंने कहा—"जेल में रहता हूँ, तो मेरे लिए नया जेल थोड़े ही है! यही एक जेल है क्या? शरीर का भी तो जेल है, उसमें भी आनन्द है। लेकिन यहाँ पर एक दुःख है।" उसने पूछा—"कौन-सा दुःख है?" मैंने कहा—"नहीं, अभी नहीं बताऊँगा। सात दिन की मुद्दत देता हूँ। आप सोचकर आइये।" वह सात दिन के बाद आया और कहने लगा—"मैं तो नहीं बता सकता।" मैंने कहा—"यहाँ चारों ओर दीवारें खड़ी हैं, जिससे मुझे सूर्योदय और सूर्यास्त नहीं दिखाई पड़ता। यही मुझे दुःख है।"

कितना रमणीय दृश्य होता है सूर्योदय और सूर्यास्त का! बिना इसको देखे दुनिया के एक रत्न को खोने का दुःख होता है। जो इस घटना को देखते हैं, उन्हें काव्य की स्फूर्ति होती है। जो नहीं देखते, उन्हें कोई काव्य नहीं स्फुरता।

शहर पर बम गिरा और सारा शहर तबाह हो गया। सूचना आयी और मिलिटरी के लोग दौड़ पड़े। उन्होंने कहा—"बहुत नुकसान तो नहीं हुआ, केवल १० प्रतिशत ही नुकसान हुआ।" जहाँ गणित का मामला आता है, वहाँ ऐसा ही होता है। जैसे आप किसीके घरवालों से कहें—"दस में से केवल एक मरा, नौ तो जीवित ही हैं, तो तुम दस प्रतिशत ही शोक क्यों नहीं करते?" जो घटना घटी वह मामूली है, ऐसा जिसको लगेगा, उसे काव्य की स्फूर्ति क्या मिलेगी? जहाँ करुणा, आनन्द हो और उस करुणा और आनन्द का भान न हो, तो काव्य नहीं स्फुरेगा। दुःख की, आनन्द की अनुभूति आपको होगी, तो उसके मुताबिक आप सहयोग देंगे। जिसने सचाई से वाणी का उपयोग किया, उसने लाखों एकड़ से भी अधिक दान दिया।

गया (बिहार)
३-८-'५३

साहित्यिक : ईश्वर से भी ऊँचा : ५ :

भूदान-यज्ञ के सिलसिले में घूमते हुए जगह-जगह हमें साहित्यिकों से मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। सबने भूदान-यज्ञ के लिए बहुत हार्दिक सहानुभूति प्रकट की और उनके मन में उत्साह पैदा हुआ। मैंने कोई खास बात तो नहीं की; परन्तु ईश्वर जब किसी काम को चालना देता है, तो सहस्रमुख से देता है। चारों ओर वह फैल जाता है और तब वह काम मनुष्य का नहीं रह जाता।

कालिदास के बाद रवीन्द्रनाथ

बंगाल तो साहित्यिकों का देश माना जाता है। यह पूर्व दिशा है। पूर्व दिशा में सूर्योदय पहले होता है, ऐसा कहा जाता है यों तो आजकल किसे पूर्व कहा जाय और किसे पश्चिम, पता नहीं चलता। अब तो सुदूरपूर्व की भी बात की जाती है। वैसे तो पृथ्वी के गोल होने से जो पूर्व है, वह पश्चिम भी है और जो पश्चिम है, वह पूर्व भी है। फिर भी आधुनिक हिन्दुस्तान के इतिहास में भारतीय अर्वाचीन साहित्य का उदय बंगाल में हुआ। यों तो आप साहित्यिकों के पचासों नाम लेंगे, लेकिन इतने सब नाम हिन्दुस्तान को मालूम नहीं हैं। फिर भी कम-से-कम बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ और शरच्चन्द्र को न जाननेवाले पढ़े-लिखे लोग हिन्दुस्तान में कहीं भी नहीं होंगे। बंगाल के दूसरे भी महान् नाम हैं, जो हिन्दुस्तान में मशहूर हैं; पर उनका उल्लेख मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ, क्योंकि वे दूसरे क्षेत्र के ज्ञानी थे। साहित्य के क्षेत्र में ये तीन नाम हिन्दुस्तानभर में अजर-अमर हो गये हैं। इनमें भी हम कह सकते हैं कि कालिदास के बाद भारतीय संस्कृति को समग्र रूप में देखनेवाला और सम्यक् रूप में व्यक्त करनेवाला रवीन्द्रनाथ से बढ़कर शायद दूसरा कोई नहीं हुआ। वैसे

महाकवि तुलसीदास, महाराष्ट्र के ज्ञानदेव, दक्षिण भारत के कम्बन और दूसरे भी कई महाकवि हो गये हैं, लेकिन उनकी योग्यता भिन्न कोटि की थी। वे धर्मपुरुष थे। एक साहित्यिक के नाते, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को पूरी तरह देखा, केवल धर्म की दृष्टि से नहीं, बल्कि समग्र जीवन को, जीवन के सब पहलुओं को देखा, वे रवियाबू ही हैं।

दीपकों की यह पंक्ति

यहां पर जो इतने सारे दीपक सँजोये गये हैं,* उनकी क्या जरूरत है? जीवन के अनेक पहलू होते हैं, वैसे ही ये अनेक दीपक दीख रहे हैं। जीवन के अनेक पहलुओं का जिन्हें सम्यक् दर्शन हुआ है, ऐसे महापुरुष कालिदास के बाद रवीन्द्रनाथ ही हुए हैं। अतः कहा जा सकता है कि अर्वाचीन काल में यहाँ पर पूर्व दिशा में प्रथम उदय हुआ। प्राचीन काल की बात दूसरी थी। तब दूसरी जगहों पर प्रकाश का उदय हुआ था। भगवान् बुद्ध के जमाने में बिहार सामने आया था और उपनिषदों के युग में शायद पंजाब और उत्तर प्रदेश आगे आये थे। किन्तु कालिदास के बाद जब हम आज की हालत देखते हैं, तो अर्वाचीन भारतीय साहित्य में, इधर सौ-दो सौ वर्ष में, बंगाल ही आगे आया। अर्वाचीन साहित्य की जन्मभूमि बंगाल है, ऐसा माना जाता है। ऐसे स्थान के साहित्यिकों से मिलने का प्रसंग आया है, इसलिए बहुत आनन्द हो रहा है।

भूदान-यज्ञ की पूर्वपीठिका

साहित्यिक होने का मेरा दावा नहीं है, न मुझ पर ऐसा कोई आरोप किया जाता है कि मैं साहित्यिक हूँ। यह सही है कि मैंने मराठी में कुछ लिखा है और वह लोगों को प्रिय लगा है। वह घर-घर पढ़ा भी जाता है। लेकिन पढ़नेवाले उसे साहित्य के तौर पर नहीं देखते, एक जीवन-विचार के तौर पर, धर्म-विचार के तौर पर, देखते हैं।

---

* मंच पर जगमगाती दीप-पंक्ति की ओर संकेत है।

लोग मुझे गणितज्ञ के तौर पर जानते हैं। यह बात सही है। यहाँ आते ही जब मैंने दीपक देखे, तो सारे दीपक गिन ही डाले।

रामकृष्ण परमहंस का एक दृष्टान्त है। एक बार एक भाई आये और आम का पेड़ देखकर आम गिनने लगे। फिर दूसरे भाई आये और उन्होंने आम देखते ही दो-चार आम मँगवाकर खा लिये। उधर पहले-वाले भाई आम गिनते ही रहे।

बचपन में मैं रामकृष्ण परमहंस का साहित्य बहुत पढ़ता था। उससे मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। अंग्रेजी में, मराठी में और बँगला में भी मैंने उनका साहित्य पढ़ा है। उनकी यह मिसाल यहाँ पर लागू होती है। मैंने देखते ही दीपक गिन लिये। ग्यारह दीपक थे। मुझे याद आया कि हमारी इन्द्रियाँ ग्यारह हैं और एकादश इन्द्रियों की ज्योति से सारा विश्व प्रकाशित हुआ है। इस तरह मैं देखता गया और भाव-विभोर होता गया। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि मेरे जीवन में गणित है और लोग इस बात को जानते हैं।

काव्य-रचना का शौक

मुझे बचपन में कविता रचने का भी शौक था। एक-एक कविता में दो-दो, तीन-तीन दिन लगते थे। कविता गुनगुनाकर देखने से मुझे मालूम हो जाता था कि कविता अब सर्वांग-सुन्दर हुई है। मैं उस समय बच्चा ही था, तो जो लिखता, वह मुझे सर्वांग-सुन्दर ही लगता था। जब मुझे पूरा समाधान हो जाता था कि कविता सुन्दर बनी है, तब उसे पूरी करता था। बचपन में मैं बहुत कमजोर था और अक्सर जाड़े के दिनों में चूल्हे के सामने बैठकर मुझे कविता लिखने की स्फूर्ति होती थी। इस तरह जब मुझे विश्वास हो जाता था कि कविता बहुत अच्छी बनी है, तब मैं वह कविता अग्निनारायण को समर्पित कर देता था। इसी तरह मैंने उस समय की सब कविताएँ अग्निनारायण को समर्पित कर दीं। फिर भी मेरे मित्रों ने दो-चार कविताएँ छीन लीं। वे आज भी बची हुई हैं। बाकी सारी कविताएँ अर्पण हो गयी हैं।

मैं अग्निनारायण को कविता तब अर्पण करता था, जब मुझे विश्वास हो जाता था कि यह कविता सर्वांग-सुन्दर बनी है। वह यज्ञ की भावना थी। वही भावना भूदान-यज्ञ में भी है। तो मैंने उसकी पूर्वपीठिका (जेनेसीस) आपको बतायी कि यह भावना मुझमें पहले से थी।

शायद आप साहित्यिकों को ऐसा लगे कि इस तरह कविताओं की आहुति देना अनुचित है। भगवान् ईसा ने कहा है कि दीपक जलाओगे, तो क्या उसे किसी पात्र के अन्दर ढाँककर रखोगे ! उसे तो प्रकट करना चाहिए। उसी तरह साहित्य जब सर्वांग-सुन्दर मालूम हो, तो उसे दुनिया के सामने प्रकट करना चाहिए। कुछ लोगों की दृष्टि ऐसी होती है, परन्तु मेरी दृष्टि भगवान् की चीज भगवान् को अर्पण कर देने की थी। उस आहुति से दुनिया का कोई नुकसान हुआ, ऐसा मुझे कभी नहीं लगा, बल्कि उसके कारण मेरे अन्दर एक-एक विचार घनीभूत होता गया।

आत्मनिष्ठा की वृद्धि

भाप की शक्ति को लोग पहले नहीं जानते थे, क्योंकि भाप प्रकट होती थी और हवा में चली जाती थी। इसलिए उसकी शक्ति मालूम नहीं होती थी। परन्तु इन दिनों एक जादू हाथ आया है। भाप को बन्द करके रखना और फिर उसकी शक्ति को प्रकट करना—यह अब मालूम हो गया है। उसी तरह जो साहित्य की भाप है, उसे पैदा करके अन्दर-ही-अन्दर आत्मा में हम जीर्ण करते हैं, तो कुछ खोते नहीं, बल्कि उससे आत्मनिष्ठा बढ़ती ही है।

विचार का प्रकाशन वाणी से हो सकता है, लेकिन वाणी से भी जो गहरी चीज है, जीवन और आचरण, उसके जरिये विचार का प्रकाशन होता है। वाणी भी अच्छी है, परन्तु उससे सूक्ष्म साधन है, जीवन। उसके जरिये वह प्रकट होता है। उसके बाद जब मैं ब्रह्म की खोज में घर छोड़कर निकल पड़ा, तो काशी में आया। वहाँ गंगा के निकट मेरा कविता लिखने का शौक और बढ़ा। उस समय मैं गंगा-तट पर बैठता था। वहाँ

के शान्त वातावरण में ध्यान, चिन्तन करके कविता लिखता था और जो कविता बन जाती थी, उसे गंगा को अर्पित कर देता था। इस तरह अग्नि-नारायण गया और गंगा आयी।

माता की प्रेरणा

एक किस्सा मुझे याद आता है। बचपन में मेरी माँ गीता पर प्रवचन सुनने जाती थी। मेरी माँ ने मुझसे कहा कि गीता तो संस्कृत में है, मैं नहीं समझ सकती। इसलिए मुझे मराठी में गीता चाहिए। तब मैंने उसे गीता का एक गद्य-अनुवाद ला दिया। उसने वह पढ़ा और कहने लगी कि यह तो गद्य है, पद्य होता तो अच्छा होता। उस समय जो एक पद्य-अनुवाद था, वह मैंने उसे दिया। उस पद्य से मुझे सन्तोष तो नहीं था, परन्तु दूसरा पद्य अनुवाद था ही नहीं। वह कठिन था, फिर भी मुझे वही देना पड़ा। उन दिनों मैं कॉलेज में पढ़ता था। माँ ने मुझसे कहा कि यह पद्य तो संस्कृत जैसा ही कठिन है। मैंने कहा कि इससे आसान कोई दूसरा है ही नहीं। जब मैंने यह बताया, तो वह सहज ही बोल गयी, "फिर तू खुद ही क्यों नहीं अनुवाद करता?" मुझे मालूम नहीं कि उसे मुझ पर इतना विश्वास कैसे हो गया था कि यह लड़का गीता का अनुवाद कर सकता है। शायद उसने मेरा कविता लिखना और आहुति देना—यह सारा अग्नि-कार्य देखा होगा। इसलिए उसे ऐसा विश्वास हुआ हो। लेकिन यह कहना होगा कि मुझे अगर सबसे अधिक बल किसीने दिया है, तो (यह कहकर विनोबाजी २-३ मिनट तक रुक गये। आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी।) मेरी माँ ने दिया है। उसने मेरे लिए कुछ नहीं किया। वह मुझे कुछ सिखा भी नहीं सकती थी। वह विद्वान् नहीं थी। पढ़ी-लिखी नहीं थी। उसे पढ़ना तो मैंने ही सिखाया था, परन्तु उसने मुझ पर अत्यधिक विश्वास रखा। केवल उसके विश्वास से ही मुझमें बल आ गया। यह कीमिया है, जादू है। यही जादू मैंने वेद और उपनिषदों में पाया।

श्रुति को 'माता' कहते हैं। शंकराचार्य ने श्रुति—वेदों का वर्णन किया है कि 'मातृ-पितृ-सहस्र[illegible]।' श्रुति या वेद इतने करुणामय हैं कि सहस्र माता-पिता से भी अधिक करुणामय हैं। श्रुति हम पर विश्वास रखती है और विश्वास से ही मनुष्य को बलवान् बनाती है। हम वेद के सामने जाते और कहते हैं कि "हम दीन हैं, पापी हैं, वासनाओं से भरे हुए हैं।" श्रुति हमारी बात सुन तो लेती है, परन्तु हमसे कहती है कि "तू ब्रह्म है!" मानवता पर कितना अधिक विश्वास है यह! हम खुद उसके पास जाकर कहते हैं कि "हम नादान हैं, पापी हैं, तू ही हमको बचा", तो वह हमें पहला ही वाक्य सुनाती है कि "तू पापी नहीं है, तू ब्रह्म है।"

अन्य दूसरों धर्मग्रन्थ हैं, जो कहते हैं कि "तू पापी है और अब पुण्यवान् बन।" परन्तु श्रुति ऐसा नहीं कहती। वह विश्वास रखती है कि तू ब्रह्म है। वैसे ही मेरी माता ने मुझ पर विश्वास रखा। मैंने उस समय उसकी बात सुन ली, लेकिन वह चीज मेरे मन में पड़ी हुई थी। फिर कई साल बाद, जब मेरी माता मर चुकी थी, मुझे मराठी में गीता का कविता में अनुवाद करने की प्रेरणा हुई। उसे मैंने नाम भी दिया 'गीताई' याने गीता माऊली, गीतामाता। अब वह चीज महाराष्ट्र में घर-घर पहुँच गयी है। उसकी तीन लाख से ज्यादा प्रतियाँ बिक चुकी हैं। उस पुस्तक का बहुत आदर होता है। जब मैं सोचता हूँ कि इसका इतना आदर क्यों होता है, तो मुझे यही उत्तर मिलता है कि उसके पहले मैंने जो कुछ चिन्तन-मनन किया था और लिखकर अग्निनारायण और गंगा को समर्पित किया था, उसीका यह प्रसाद है। वह मेरे द्वारा नहीं लिखा गया है। मैं उसे कोई साहित्यिक कृति नहीं मानता हूँ, उसमें धर्मचिन्तन है। मैंने यह माता की प्रेरणा से ही किया।

साहित्यिक : ईश्वर से भी बड़ा

साहित्य की शक्ति पर मेरा बहुत विश्वास है। साहित्य की शक्ति परमेश्वर की शक्ति के बराबर पड़ती है। मैंने यह

धृष्टतापूर्ण वाक्य कहा है। परन्तु मैं मानता हूँ कि ब्रह्माण्ड में जो है, उसे ईश्वर की शक्ति माना जाता है। ब्रह्माण्ड में जो है, वह सब साहित्यिकों की वाणी में आता है। परन्तु जो ब्रह्माण्ड में नहीं है, वह भी साहित्यिकों की वाणी में आता है। शश-शृंग ईश्वर की सृष्टि में नहीं है, परन्तु साहित्यिकों की सृष्टि में है। आकाश-पुष्प को किसने देखा था, परन्तु साहित्यिक सृष्टि में वह है। आकाश-गंगा भी आकाश में तो नहीं है, परन्तु साहित्यिक की सृष्टि में है। साहित्यिक तो आकाश में, पाताल में और धरती पर गंगा की धारा देखते हैं। इस तरह वे गंगा की तीन-तीन धाराएँ देखते हैं। लेकिन ईश्वर की सृष्टि में गंगा की एक ही धारा है, जो हिमालय से निकलती है और गंगासागर में लीन हो जाती है। इसलिए साहित्यिकों के पास बहुत शक्ति पड़ी है।

साहित्य क्या है ?

मैं आपसे यह नहीं कहूँगा कि आप भूदान-यज्ञ पर लिखिये, क्योंकि ऐसा कहना धृष्टता भी होगी और मूर्खता भी। धृष्टता इसलिए कि साहित्यिक अपना धन्धा जानते हैं। उनको सहज ही क्या-क्या उचित है और क्या-क्या अनुचित, इसकी पहचान हो जाती है। उनसे कुछ कहना नहीं पड़ता। इसलिए जो कहेगा, उसकी वह धृष्टता होगी और मूर्खता इसलिए होगी कि कोई भी साहित्यिक दूसरे के कहने से नहीं लिखता। वह तो अन्तःप्रेरणा से लिखता है, जब उसके लिए कोई बाहर का निमित्त कारण मिल जाता है। साहित्यिक जब लिखने बैठते हैं, तो उन्हें ऐसा भान नहीं होता कि उन्होंने जो लिखा है, उससे उन्होंने संसार पर उपकार किया है। यदि ऐसा भान हो जाय, तो वह साहित्य नहीं होगा। साहित्य तो वही है, जो आत्मा के सहित, आत्मा के साथ चलता है। सहित यानी चलनेवाला साथी। इसलिए जब वह अन्दर की गहराई से बाहर आता है, तब सारे संसार को पावन करता है। वह किस गुहा से निकलता है, किसीको मालूम नहीं है। उस गुहा में दुनिया की पहुँच नहीं है। गंगा

जब बाहर आती है, तब लोग उसे पहचानते हैं और गंगा-पूजन करते हैं, परन्तु वह किस गुहा से निकलती है, उसे कोई नहीं जानता।

साहित्यिक और राज्याश्रय

आजकल ऐसा जमाना आया है कि दूसरी ही बातें चलती हैं। उनमें कोई सार नहीं है, ऐसा तो हम नहीं कहते। अभी दिल्ली में 'साहित्य अकादमी' बनायी गयी। क्या हमारे भारत के साहित्य में 'अकादमी' के लिए कोई शब्द ही नहीं मिला ! यहाँ पर दस-बारह भाषाएँ हैं और वे दस हजार वर्ष से विकसित हुई हैं। जब उन भाषाओं में उस काम के लिए कोई शब्द ही नहीं मिला, तो वह कार्य क्या चलेगा ! विज्ञान की बात दूसरी है। विज्ञान के शब्द चाहे हमारी भाषाओं में न मिलें, परन्तु साहित्य के लिए समुचित शब्द नहीं मिलते हैं, तो वह चीज ही मुझे खटकती है। फिर मैंने सोचा कि खैर, नाम कोई हो, पर काम ठीक हो, तो ठीक होगा। लेकिन काम भी क्या होता है ! साहित्यिकों को इनाम दिया जाता है। अब सोचिये कि दुनिया में इनाम से कोई चीज बनती है ? तुलसीदास और कबीर को क्या इनाम मिला था ? हाँ, हमारे रवीन्द्रनाथ को इनाम मिला था, जिसे 'नोबेल प्राइज' कहा जाता है। इस जमाने में हर बात की कीमत पैसे में आँकी जाती है। किसीने अच्छा साहित्य लिखा, तो उसे अच्छी तरह से खिलाया-पिलाया जाना चाहिए, ऐसा कहा जाता है; लेकिन खिलाने-पिलाने का साहित्य से क्या सम्बन्ध है ! हम मानते हैं कि साहित्यिक को जीवन के लिए कुछ चाहिए। लेकिन आज हर चीज की कीमत पैसे में करते हैं और इसलिए इनाम देते हैं। सोचते हैं कि इससे उसको कुछ सहारा मिल जायगा; परन्तु साहित्यिक के जीवन का मूलस्रोत दूसरा ही होता है।

भगवदर्पण

आन्ध्र में पोतना नाम के एक भक्त-कवि हो गये हैं। उन्होंने भागवत का तेलुगु में अनुवाद किया। वे किसान थे, खेती करते थे। बहुत ज्यादा संस्कृत नहीं जानते थे, लेकिन कुछ जानते थे। इसीलिए तो वे अनुवाद

कर सकें, उन्होंने ग्रन्थ लिखा, तो उनके मित्रों ने सलाह दी कि यह ग्रन्थ राजा को अर्पण करो, तो इसका खूब प्रचार होगा। उन दिनों साहित्य का आदर करनेवाले राजा होते थे। परन्तु पोतना ने कहा कि "मैं सोचूँगा" और जब उन्होंने समर्पण-पत्रिका लिखी, तो उसमें लिखा कि "यह भगवान् की कृति भगवान् को ही अर्पण करता हूँ।"

पोतना खेती करके मिट्टी में अपना पसीना डालकर अपनी रोटी कमाते थे। बचे हुए समय में उन्होंने भागवत लिखी, तो क्या वह किसी राजा को अर्पण की जा सकती है! हिन्दुस्तान का साहित्य ऐसे ही लोगों के कारण बढ़ा है, जिन्होंने लक्ष्मी को माता समझा, दासी नहीं। जो निरन्तर साहित्य का सर्जन करते थे, वे जन-समाज में काम करते रहे और शरीर के लिए जीवनाधार के तौर पर जो कुछ मिलता था, उसीसे सन्तुष्ट रहते थे। उन्होंने राजाओं की परवाह नहीं की। पैसे से वे खरीदे नहीं जा सकते थे। ऐसे ही लोगों से हिन्दुस्तान का साहित्य बढ़ा है। तुलसीदास, कबीर, पोतना, तुकाराम—इस तरह भाषा के सर्वोत्तम साहित्यिकों को देखिये, वे राज्याश्रित नहीं थे। वे भगवान् के आश्रित थे। जन-समाज में जीवन बिताते थे। आप उन्हींके वारिस हैं।

एक बात और। साहित्यिकों के पास भी तो कुछ सम्पत्ति होती है। तो जहाँ यह सार्वजनिक यज्ञ शुरू हुआ है, उसमें आपको भी अपना हिस्सा समर्पित करना चाहिए। उससे सब लोगों को प्रेरणा मिलेगी। आपके हृदय का भी समाधान हो जायगा कि जनता की जो माँग है, उसमें हमने भी साथ दिया। इसलिए मैं चाहता हूँ कि इसमें आप कुछ-न-कुछ दें। फिर साहित्य की आपको जो भी प्रेरणा हो, उसके अनुसार आप हमें जो भी कृपा-प्रसाद दे सकते हैं, दें। मैं आप सबको भक्तिभाव से प्रणाम करता हूँ।

बलरामपुर (मेदिनीपुर)
१९-१-'५५

बहुत खुशी की बात है कि आप लोगों से मिलने का आज अवसर मिला। वैसे उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल—तीनों बड़े प्रान्तों में हमारी यात्रा हो चुकी है और तीनों प्रान्तों में साहित्यिकों का आशीर्वाद, सहानुभूति और सहयोग भी हमें मिला है।

साहित्यिक सम्प्रदाय से परे

तेलंगाना में भूदान का कार्य शुरू हुआ था। इस आन्दोलन ने सबका ध्यान खींचा है। सबसे पहले उन लोगों का उत्साह इस काम में बढ़ा, जो निर्माणात्मक या रचनात्मक कार्य करते थे। यह स्वाभाविक था। जो लोग वर्षों तक गांधीजी के साथ रहे थे और खादी, ग्रामोद्योग, नयी तालीम, ग्राम-सफाई आदि कामों में लगे हुए थे, वे अपने को कुछ मायूस या निराश-सा महसूस कर रहे थे। उन्हें इस काम से बहुत ही प्रेरणा मिली। भू-दान-यज्ञ से मानो उनमें नया प्राण संचार हुआ, जिसका अनुभव इस प्रदेश में भी हुआ। आपने देखा है कि यहाँ पर गोपबाबू वगैरह इस काम में कूद पड़े हैं और सतत पद-यात्रा कर रहे हैं। प्रथम बल उनको मिला है, जो स्वाभाविक ही था। बाद में जिनका ध्यान इस आन्दोलन की ओर खिंचा, उनमें हिन्दुस्तान के साहित्यिक थे। यह भी स्वाभाविक ही था। साहित्यिक किसी संप्रदाय के नहीं होते। साहित्यिकों का लक्षण ही यह है कि वे सम्प्रदायातीत होते हैं। जो सम्प्रदाय में बद्ध होते हैं, वे चिरन्तन साहित्यिक नहीं होते, वे तो तात्कालिक साहित्यिक होते हैं। चिरन्तन साहित्यिक तो सब पंथों, सम्प्रदायों से भिन्न, परे होते हैं। जीवन के लिए कोई क्रान्तिकारी या बुनियादी घटना घटे, तो वह उनको सहज ही आकर्षक मालूम होती है। फिर वह घटना किसी

सम्प्रदाय या पंथ की ही क्यों न हो, वह अगर बुनियादी चीज है, तो साहित्यिकों को उसके प्रति आकर्षण होता है।

भूदान से गरीबों को आशा

फिर राजनैतिक पक्षवालों का ध्यान इस काम की ओर गया। कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी आदि सब पक्षों को लगा कि इस काम का असर राजनीति पर पड़ सकता है। इसलिए उनका भी ध्यान इस ओर खिंचा। गरीबों का तो ध्यान पहले से ही इस ओर था। उनको लगता था कि यह काम तो साक्षात् दरिद्रनारायण के लिए हो रहा है। वे चाहते थे कि स्वराज्य के बाद कोई ऐसा आन्दोलन हो, जिसका उद्देश्य दरिद्रों की सेवा हो। उसका और कोई उद्देश्य न हो। हमने देखा कि स्वराज्य के बाद ऐसा नहीं हुआ। जिनके हाथों में राज्यसत्ता थी, वे कुछ आपत्ति में थे, इसलिए वह न हो सका, लेकिन गरीब लोग तो आशा से देख रहे थे कि स्वराज्य मिल गया है, तो अब हमारी हालत कैसे सुधरेगी? उन लोगों के लिए तो भूदान-यज्ञ अमृत-सिंचन जैसा है। वैसे उनको इस काम से कोई बहुत ज्यादा मदद तो नहीं मिली है, अब तक सिर्फ छत्तीस लाख* एकड़ भूमि प्राप्त हुई है। यह भूमि बँटेगी, तभी उनके पास आयेगी, फिर भी उनको अब तक कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी हिन्दुस्तान में 'दरिद्रनारायण की सेवा' शब्द चल पड़ा है। 'दरिद्रनारायण' शब्द कोई नया नहीं है। यह शब्द स्वामी विवेकानन्द का है। उनकी कितनी महान् प्रतिभा थी! उन्हें सहज ही यह शब्द सूझा। फिर देशबन्धु दास ने उस शब्द को चलाया और गांधीजी ने उसे व्यापक बना दिया। खादी के आन्दोलन में गांधीजी ने दरिद्रनारायण के लिए देशभर से पैसा माँगा। उन्हें पैसा मिला और फिर 'चरखा-संघ' शुरू हुआ। उस समय राज्य भी हमारा नहीं था, अंग्रेजों का था। देहात के गरीब लोगों को कोई पूछता भी नहीं था। तब गांधीजी ने उनकी ओर सबका ध्यान

---

* अब यह परिमाण ता० ३०-११-'६० तक ४४,२३,८७२ एकड़ तक पहुँच गया है।

सोचा । अब स्वराज्य के बाद तो वे आशा करते हैं कि उनका ही राज्य होगा । अब प्रथम कार्य गरीबों के उत्थान का ही होगा । लोग तो यहाँ तक सोचते थे कि 'वाइसरीगल लॉज'* का अब दवाखाना बनेगा । गांधीजी ने भी यही बात कही थी । खैर, वह बात नहीं हुई । उस समय मैं दिल्ली में शरणार्थियों के बीच काम कर रहा था । वे लोग कहते थे कि गांधीजी ने 'वाइसरीगल लॉज' का दवाखाना बनाने को कहा था, लेकिन वह नहीं हो रहा है । उस समय उनके लिए घर भी नहीं थे, तो उनकी नजर उस बड़े मकान की तरफ गयी । वे कहने लगे कि इतने बड़े मकान में थोड़े-से ही लोग रहते हैं । खैर, वह भी नहीं हुआ ।

गांधीजी की असामान्य प्रतिभा

हम तो समझते हैं कि गांधीजी की असामान्य प्रज्ञा थी, जिससे वे सामान्य जनता के साथ फौरन एकरूप हो जाते थे । उन्हें कुछ सोचना ही नहीं पड़ता था । एक मुट्ठीभर नमक क्या चीज थी ! किसका ध्यान उस पर जा सकता था ? हाँ, पहले के अर्थशास्त्रियों में कुछ बोले थे कि नमक पर टैक्स नहीं होना चाहिए । उसका आधार लेकर गांधीजी ने कहा कि नमक तो मुफ्त मिलना चाहिए । हमारी भाषा में एक शब्द है, 'नमक-हराम' । उसका मतलब यह है कि सारे जीवन को रुचि या स्वाद देनेवाला पदार्थ अगर कोई है, तो वह नमक है । अंग्रेजी में 'ब्रेड एण्ड बटर' कहा जाता है । लेकिन हमारे यहाँ तो रोटी के साथ नमक चलता है, 'नमक-रोटी' कहा जाता है । गांधीजी ने कहा कि हम नमक बनायेंगे और अंग्रेजों का कानून तोड़ेंगे । लोग हँसने लगे कि इससे क्या कानून तोड़ना होगा, परन्तु वह बात हुई; क्योंकि वह बुनियादी चीज थी । वैसे ही शराब की दुकानों पर पिकेटिंग करने की बात लीजिये । उन्होंने बहनों से पिकेटिंग करवायी । तब चर्चा चल रही थी कि शराब की दुकानों पर किसे भेजा जाय, क्योंकि वे तो गुंडों के अड्डे होते हैं । सबसे नीचे के

* राष्ट्रपति-भवन

[illegible] पहुँचते हैं। तब गांधीजी ने कहा कि वहाँ बहनों को भेजना चाहिए। और बहनों की क्या हालत थी? वे तो घर के भी नहीं निकलती थीं। पर्दे के अन्दर ही रहती थीं। उनके हाथ [illegible] सोने की शृंखला होती थी। सोने की ही सही, पर थी शृंखला ही। उसे [illegible] भी कहा जाता था। ऐसी बहनों को बदमाशों का सामना करने की यह सूचना बड़ी विचित्र मालूम हुई। लोगों ने कहा कि वहाँ का वातावरण तो बड़ा गन्दा होता है, गालियाँ बकी जाती हैं, वहाँ बहनें कैसे जा सकती हैं? तब गांधीजी ने कहा कि बहनें तो सभ्यता और संस्कृति की मूर्ति हैं न! अतः जहाँ 'असंस्कृति' है, वहाँ 'संस्कृति' को भेजना चाहिए। वहाँ तो सद्भावनावालों को ही भेजना चाहिए। अन्धकार का मुकाबला प्रकाश से ही हो सकता है। बहनें वहाँ पर गयीं और लोग उनको देखकर शर्मिन्दा हुए। यह सब गांधीजी की ही सूझ थी। जिनकी दुनिया में कोई कीमत नहीं है, उनके साथ एकरूप होने की अद्भुत सूझ उनमें थी और वह बिलकुल सहज होती थी।

साहित्यिक चिनगारी को पहचानते हैं

इन बातों से आजादी की लड़ाई को जोर मिला। कुछ लोग तो उल्टा सोचते थे। वे कहते थे कि शराब-बन्दी, खादी वगैरह चीजें स्वराज्य-आन्दोलन के साथ जोड़ दी गयीं, इसलिए उनमें जोर आ गया। लेकिन वे नहीं समझते थे कि वे तो जीवनदायिनी चीजें हैं, उनके कारण स्वराज्य-आन्दोलन में नैतिकता आयी। फिर स्वराज्य आया। उसके बाद फिर अब कुछ बात करनी है, तो गरीबों के लिए ही करनी है। फिर भूदान-यज्ञ चला। छत्तीस लाख एकड़ भूमि हमें मिली। यह कोई बड़ी बात नहीं है; लेकिन है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण। अगर जमीन ही गिनी जाय, तो क्या चीज है! हिन्दुस्तान में तीस-चालीस करोड़ एकड़ जमीन है, वहाँ यह छत्तीस लाख एकड़ जमीन एक प्रतिशत ही तो हुई। लेकिन साहित्यिकों के लिए यह विशेष बात है, क्योंकि वे चिनगारी को पहचानते हैं।

दूसरों के लिए तो पेट्रोमैक्स की जरूरत होती है, लेकिन साहित्यिकों के लिए एक चिनगारी ही बस है। वे प्रकाश का अंकुर देखते हैं, तो परीक्षा कर लेते हैं। दूसरे तो बीज से भी परीक्षा करना नहीं जानते। वे जब फल चखते हैं, तभी जानते हैं कि फल अच्छा है या नहीं। लेकिन साहित्यिकों का स्वाद बिगड़ा हुआ नहीं है। उनका स्वाद स्वच्छ और निर्मल होता है।

साहित्यिकों के लिए हमारी भाषा में 'कवि' शब्द का प्रयोग किया गया है—'**कविः क्रान्तदर्शी**'। कुछ सतरें कागज पर लिख डालने से कोई कवि नहीं होता। जिसे क्रान्त-दर्शन है, जिसे उस पार का दर्शन है—इस पार का दुनिया को दर्शन नहीं है, क्योंकि दुनिया की आँखों पर पर्दा पड़ा है, ऐसा दर्शन जिनको है—वे कवि कहे जाते हैं। कवि को तो [illegible] होता है, मामूली आँख का दर्शन नहीं। जरा इशारा या चिनगारी मिल जाय, तो उन्हें मालूम हो जाता है। अब तो हमें कुछ जमीन मिली है, लेकिन जब उत्तर प्रदेश में थे, तब तो हमें ज्यादा जमीन नहीं मिली थी। फिर भी मैथिलीशरणजी और सियारामशरणजी को इस काम के प्रति आकर्षण हुआ और उन्होंने कहा कि "अरे, यह तो भारत का हृदय है।" हृदय तो छोटा होता है अँगूठे के जैसा, लेकिन उसके अन्दर जो ज्योति है, वही आत्मतत्त्व है। वह बिलकुल ही छोटा होता है, अणुमात्र : '**अणोरणीयान् महतो महीयान्!**' परन्तु उसकी प्रभा इतनी व्यापक होती है कि महान्-से-महान् चीज वही होती है। छोटी-सी चीज में भी चेतना होती है, तो वह अलग से दीखती है।

विवेकानन्द ने कहा था कि चलती ट्रेन में बहुत ताकत होती है, लेकिन पटरी पर की छोटी सी चींटी ने देखा कि राक्षसी गाड़ी आ रही है, तो वह हट जाती और बच जाती है। ट्रेन कितनी ही बड़ी हो, फिर भी चींटी उससे बच जाती है; क्योंकि वह राक्षसी बेवकूफ होती है। वह तो अचेतन है और चींटी में चैतन्य होता है, जिसके कारण वह बच सकती है। उसको मारने की शक्ति ट्रेन में नहीं होती। जिसमें चेतन का अंश है,

यह बात साहित्यिकों को आकर्षक मालूम होती है। इसलिए हम चाहते हैं कि आप स्वतन्त्र बुद्धि से इस काम की ओर देखिये, चारण मत बनिये। उदासीन होकर इसकी ओर देखिये। मैंने 'उदासीन' शब्द संस्कृत के अर्थ में इस्तेमाल किया है। 'उत् आसीनः'—यानी ऊँचा बैठा हुआ। यह अहिंसा का विचार है। सर्वोदय का या किसी खास सम्प्रदाय का विचार है, इस दृष्टि से मत सोचिये। स्वतन्त्र बुद्धि से सोचिये। यह सोचिये कि इसका क्रान्त-दर्शन क्या हो सकता है ?

भारत का गौरव : ब्रह्म-विद्या

हिन्दुस्तान की भव्यता का वर्णन अनेक लोग अनेक प्रकार से करते हैं। कहते हैं कि हिमालय जैसा पहाड़ नहीं, गंगा जैसी अदभुत नदी नहीं। और भी कई बातें कही जाती हैं। तो इसके पीछे ममत्व है, इसलिए यह महत्ता हमें प्रतीत होती है। ममत्व न हो, तो वह नहीं प्रतीत होगी। यों तो हर देशवासी को अपने देश के लिए ममत्व होता है, इसलिए महत्त्व मालूम होता है। हम भी कहते हैं, 'सारे जहाँ से अच्छा'। अगर पूछा जाय कि क्या अच्छा ? तो कहते हैं, 'हमारा'। अगर वह 'हमारा' छोड़ दें और केवल तुलना के लिए खड़े हो जायँ, तो वह बात नहीं रहती।

हिन्दुस्तान की मिट्टी अमेरिका की मिट्टी से अधिक अच्छी है, ऐसी बात नहीं है। यों तो अमेरिका की मिट्टी ही बिलकुल ताजी है—'फ्रेश' है, उसमें से अधिक फसल पैदा हो सकती है। वहाँ पर कितनी बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं ! उनके सामने हमारी गंगा नदी क्या है ! हाँ, यह हिमालय पर्वत दुनिया में सबसे ऊँचा है, पर उसको छोड़कर दूसरी ऐसी कोई चीज हमारे पास नहीं है, जिसके आधार पर हम दावा कर सकें कि हिन्दुस्तान श्रेष्ठ है, परन्तु ममत्व के कारण हम ऐसा दावा करते हैं।

मेरा दावा यह नहीं है कि हिन्दुस्तान की कुदरत दूसरे देशों की कुदरत से अच्छी है, लेकिन मेरा दावा यह है कि हिन्दुस्तान में ब्रह्म-विद्या निकली है, जिसकी ताकत से यह भूदान यज्ञ चला है, उस जोड़ की वस्तु

दुनिया में नहीं है। यह बात हम बिलकुल तटस्थ होकर कह रहे हैं। हमने दुनिया की बहुत-सी भाषाओं और साहित्य का अध्ययन किया है —किन्तु दुनिया की किसी भी भाषा में ऐसा साहित्य नहीं है, जो निर्भयता से कहे कि 'तत्त्वमसि'—'तू ब्रह्म है' और यही हमारा बल है। इसके वास्ते हम भारत का गौरव मानते हैं। यह गौरव स्वतन्त्र दृष्टि से भी सिद्ध होता है। भारत 'सारे जहाँ से अच्छा' है, क्योंकि यहाँ पर ब्रह्म-विद्या है।

मांसाहार-निवृत्ति

वह 'ब्रह्म-विद्या' ऐसी नहीं है कि उसके साथ-साथ अन्धकार भी रहे, भ्रम भी रहे। वह ब्रह्म-विद्या इतनी ताकतवर है कि उसके सामने अन्धकार टिक नहीं सकता, भ्रम रह नहीं सकता। उसीके बल के कारण यहाँ करोड़ों लोगों ने मांसाहार छोड़ा। दुनिया के दूसरे देशों में आज प्रयोग हो रहे हैं। वे बालवत् प्रयोग कर रहे हैं—'वेजीटेरियन रेस्टूरेंट' खोलते हैं। कुछ लोग वहाँ जाते हैं। इस तरह वहाँ पर नया आरम्भ हुआ। जो आन्दोलन हिन्दुस्तान में दस-दस हजार साल पहले हो चुके, उनका आरम्भ पाश्चात्य देशों में अब हो रहा है। अब जनसंख्या बढ़ रही है, तो उनको अनुभव हो रहा है कि मांसाहार करते हैं, तो हर मनुष्य के पीछे दो एकड़ जमीन की जरूरत होती है। दूध लेते हैं और शाकाहार करते हैं, तो एक एकड़ जमीन की जरूरत होती है। केवल शाकाहार और धान्याहार करते हैं तो आधे एकड़ से काम चल जाता है। पाश्चात्य लोग वैज्ञानिक होते हैं, इसलिए वे इस तरह का हिसाब करते हैं। मेरा मानना है कि वे धीरे-धीरे मांसाहार छोड़ने की तरफ आयेंगे। उनके ध्यान में आयेगा कि पशुओं का खाना गलत है। लेकिन हिन्दुस्तान में तो यह बात तभी फैल चुकी, जब जनसंख्या अधिक नहीं थी।

हमने सुना है कि हिटलर ने मांसाहार छोड़ दिया था, क्योंकि मांस के टीन दक्षिण अमेरिका और अर्जेण्टाइना से आते थे। वहाँ पर बैलों की हत्या होती थी और फिर टीन में भरकर मांस बाहर भेजा जाता था। बैलों

[illegible] मिलता था और सुन्दर-सुन्दर ट्रेन में बैठकर वे बैल [illegible] के पेट में प्रवेश करने के लिए आते थे ! जर्मनी ने सोचा कि लड़ाई छिड़ जायगी और इन ट्रेनों का आना बन्द हो जायगा, तो हमारी क्या [illegible] हो जायगी। इसलिए जर्मन लोग शाकाहार का प्रयोग करने लगे। [illegible] मांसाहार छोड़ने की जो प्रेरणा हुई, उसके पीछे परिस्थिति का प्रभाव था। ऐसे हमारे देश में सही विचार करनेवाले और सत्य शोधन करनेवाले [illegible] भी हैं, परन्तु जनता उनके पीछे तब जाती है, जब पीछे जाना अनिवार्य हो जाता है। लेकिन हिन्दुस्तान में तो जब जनसंख्या कम थी, तभी यह बात चल पड़ी थी।

शाकुन्तल में आता है—**'आश्रमम् मृगो अयम् न हन्तव्यो न हन्तव्यः।'** राजा दुष्यन्त शिकार के लिए वहाँ पर आता है, तो आश्रम का बच्चा निर्भयता से उसे कहता है कि **'न हन्तव्यो न हन्तव्यः।'**—यह आश्रम का मृग है, इसे मत मारो। इस तरह आज कौन लड़का बादशाह से यह बात कह सकेगा ! लेकिन उस बच्चे ने दुष्यन्त से कहा, और फिर दुष्यन्त ने मृग को छोड़ दिया। यह हिन्दुस्तान की सभ्यता और संस्कृति है। यह इसलिए हुआ कि यहाँ पर ब्रह्म-विद्या थी। परिस्थिति के दबाव से तो प्रयोग होते ही हैं, लेकिन यहाँ पर मांसाहार-परित्याग का जो प्रयोग चला, वह ब्रह्म-विद्या के कारण चला। ब्रह्म-विद्या कहती है कि हम सब आत्मरूप हैं। इसलिए कौन किसको खायेगा !

गांधी जैसे अंकुर

हमारे यहाँ ये जो गांधी वगैरह उत्पन्न हुए हैं, यह कोई चीज नहीं है। हिन्दुस्तान की भूमि में ऐसी शक्ति है कि इस भूमि में से ऐसे ही अंकुर निकल सकते हैं, दूसरे अंकुर नहीं निकल सकते। लोग इतिहास लिखने बैठते हैं, स्वतंत्रता के आन्दोलन का इतिहास लिखने बैठते हैं। किसने क्या किया, किसने कितना क्या किया, यह सब लिखते हैं। वे कागज देखकर लिखते हैं और कहते हैं कि पूरे कागज नहीं मिल रहे हैं।

अंक कागज़ में रखा गया है? क्या हिन्दुस्तान का इतिहास कागज़ में लिखा है? हिन्दुस्तान का इतिहास तो आसमान में लिखा है। ऊपर देखो—विश्वामित्र, वसिष्ठ, अरुन्धती, सप्तर्षि, सब वहाँ पर हैं। हिन्दुस्तान का इतिहास देखना है, तो आकाश में देखो। यहाँ पर कितने ही राजा आये और गये, लेकिन नाम चलता है केवल 'राजा राम' का। सिर्फ हिन्दुओं की यह हालत नहीं है, हिन्दुस्तान के मुसलमान भी इसी मनोवृत्ति में पड़े हैं।

मैं मेवातों के बीच काम कर रहा था। उजड़े हुए मुसलमान भाइयों को बसाने का काम कर रहा था। एक दिन उनकी सभा में मैंने पूछा, "क्या आप अकबर बादशाह को जानते हैं?" उन्होंने जवाब दिया, "नहीं जानते।" फिर पूछा, "आपने अकबर का नाम नहीं सुना?" उन्होंने कहा, "सुना है, अल्ला हो अकबर, अल्ला हो अकबर।" यह तो हिन्दुस्तान के मुसलमानों की हालत है! यहाँ पर राजा राम का नाम ही मालूम है। दूसरा राजा तो हमारे देश के निवासी नहीं जानते। फिर ये छोटे-छोटे इतिहास लिखकर क्या करते हो?

वेदों से लेकर उपनिषद् तक एक धारा चली आ रही है। बुद्ध, महावीर और असंख्य साधुओं का एक प्रवाह चला आ रहा है। उस प्रवाह में गांधीजी आये। उनका आना लाज़िमी था। वे न आते, तो क्या करते! हम तो उन्हें बहुत बड़ा महात्मा आदि कहते हैं, परन्तु वे जानते भी थे और कहते थे कि 'मैं कुछ नहीं हूँ।' यह बात सही थी। यहाँ पर ऐसा सनातन धर्म है, तो ऐसा आचरण होता ही है। हम उसीमें पैदा हुए हैं। इस देश की महत्ता इसीमें है कि यहाँ का जो सारस्वत है, साहित्य है, उसमें जो ऊँचे विचार मिलेंगे, वैसे विचार दुनिया की दूसरी भाषाओं में नहीं मिलेंगे। बाकी जो हिन्दुस्तान का वैभव कहा जाता है, वह तो समत्व के कारण ही।

तमिल कवि सुब्रह्मण्यम् ने कहा है कि हिमालय जैसा दूसरा पहाड़ नहीं है और उपनिषद् जैसी दूसरी पुस्तक नहीं है। आखिर आपके पास

एक ही तो भौतिक चीज है और वह है हिमालय। यह जो अद्वितीय चीज है, उसीकी मिसाल उस कवि ने पेश की। दूसरी चीजें तो दुनिया में भी हैं। इसलिए अगर हमारी सबसे बड़ी कोई चीज है, तो वह है हमारा साहित्य। आजकल कहा जाता है कि संस्कृत भाषा तो अब मर गयी। आखिर यह मरना-जीना क्या है? बीज मर गया और वृक्ष पैदा हुआ, तो क्या बीज मर गया? बीज मरा, परन्तु बीज में से पेड़ पैदा हो गया, वहाँ पर बीज नहीं मरा। जहाँ पेड़ ही नहीं पैदा होता है, वहाँ समझ लीजिये बीज मर गया, निर्जीव हो गया। यह जो हिन्दुस्तान की भाषाएँ हैं, सब संस्कृत से पैदा हुई हैं। तो उस बीज में से आज विशाल वृक्ष पैदा हुआ है। इसलिए यहाँ की हर भाषा में भक्ति का साहित्य मौजूद है। जो शक्ति बीज में थी, वही शक्ति इन भाषाओं में भी आयी है। तो हिन्दुस्तान का वैभव ही यहाँ का साहित्य है, दर्शन है। संस्कृत में जो नाटक और कहानियाँ लिखी गयीं, वैसी तो दुनिया की दूसरी भाषाओं में भी लिखी गयी हैं। हम यह दावा नहीं कर सकते कि यहाँ पर जैसा अद्‌भुत इतिहास लिखा गया, वैसा दुनिया की दूसरी भाषा में नहीं लिखा गया। लेकिन हम यह दावा कर सकते हैं कि हिन्दुस्तान में जो ब्रह्म-विद्या निकली, इसकी अनेक शाखाएं पैदा हुईं, अनेक दर्शन हुए। इन सबकी बराबरी करनेवाली चीज दुनिया में दूसरी कोई नहीं है।

ब्रह्म-विद्या किसी विशेष भूमि की वस्तु नहीं है। वह तो सारी दुनिया की चीज है। वह तो एक संयोग था, इत्तिफाक था कि वह चीज यहाँ पर पैदा हुई। वह चीज यहीं पर क्यों पैदा हुई? इसका कारण हम नहीं जानते। ब्रह्म-विद्या कोई ऐसी चीज नहीं है कि जो साल-दो साल में फैल जाय। वह तो हजार-हजार सालों में फैलती है। लेकिन हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि यह बीज दुनिया में फैलनेवाला है। आज का विज्ञान तो उसके सामने बालक है। परन्तु जैसे-जैसे वह प्रौढ़ होता जायगा, उसकी आत्मा का भान होता जायगा। आज कुछ भान हो भी रहा है। जो [illegible] वैज्ञानिक माने जाते हैं, उनको यह भान हो रहा है कि

शायद कुछ चेतन है। साठ साल पहले तो विज्ञान अन्धकारमय था। उस समय वैज्ञानिक ऐसा तो नहीं कहते थे कि ईश्वर है ही नहीं। वे नास्तिक नहीं थे। वैज्ञानिक नास्तिक नहीं, नम्र होते हैं। वे कहते थे कि इसके बारे में हम कुछ भी नहीं कह सकते, लेकिन अब कहते हैं कि इसमें कुछ मूल तत्त्व होना चाहिए और हमारा विश्वास है कि भारत की सारी-की-सारी ब्रह्म-विद्या विज्ञान के जरिये सही सिद्ध होनेवाली है।

ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र है

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि श्रद्धा नष्ट हो रही है, लेकिन विज्ञान के कारण श्रद्धा की जरूरत ही नहीं रहेगी! मानव को अनुभव होगा और वही अनुभव कहेगा कि सारी दुनिया में ब्रह्मतत्त्व पड़ा है। विज्ञान तो प्रयोग करता है। आज विज्ञान और गणित के कारण ब्रह्म-विद्या का जितना स्पष्ट दर्शन हमें होता है, उतना स्पष्ट दर्शन प्राचीनकाल के लोगों को नहीं होता था। उनके सामने तो स्थूल उपमाएँ थीं। उपनिषदों में कथा-कहानियाँ आती हैं। पिता पुत्र को ज्ञान दे रहा है। उसमें वट-वृक्ष की उपमा का उपयोग किया गया है। पिता कहता है कि छोटे-से बीज में से एक विशाल वट-वृक्ष पैदा होता है, छोटे-से बीज में जो नहीं दिखाई देता है, वह विशाल वट-वृक्ष उसमें छिपा होता है। वैसे ही आत्मा का स्वरूप होता है। इसलिए हे सौम्य, तुम श्रद्धा रखो। आखिर उसे यह कहना पड़ा—'श्रद्धस्व सौम्य!' लेकिन आज तो हमारे पास सूक्ष्म मिसालें हैं। यह 'एटम' का युग है, ऐसा कहा जाता है। लेकिन 'एटम' से तो ब्रह्म-विद्या साफ दीख पड़ेगी। वह चेतन-शक्ति कण-कण में प्रवेश कर सकती है। उसका साक्षात् दर्शन होगा। पहले तो आत्मा का दर्शन नहीं होता था, न आत्मा कानों से सुनी जा सकती थी। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः', लेकिन उसको आत्मा का द्रष्टव्य और श्रोतव्य स्वरूप नहीं मालूम था। उनकी आकांक्षा थी कि आत्मा आँखों से दीख पड़े, कानों से सुनाई दे, लेकिन अब तो आत्मा आँखों से छिपी

और कानों से सुनाई देगी। कुछ समय बाद ऐसी स्थिति होगी कि आत्मा आँखों के सामने दीख पड़ेगी।

अब रेडियो आया है तथा और भी बहुत-सी चीजें आयी हैं। हम ... के रेकॉर्ड सुनते हैं और उनकी आवाज पहचानते ... उनके मरने के बाद भी हम आवाज सुनते हैं और पहचानते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि शब्द व्यापक और नित्य है। मीमांसकों का ... झगड़ा चलता था कि शब्द नित्य है या अनित्य? लेकिन आज यह बात सिद्ध हो गयी है कि शब्द नित्य है, उसे पकड़ने की तरकीब मालूम हो जाय, तो उसे हम पकड़ सकते हैं। इसका मतलब है कि कान से परे की शक्ति हमारे हाथ आयी है। कान की शक्ति बढ़ी है। इस तरह आँख की भी शक्ति बढ़ेगी। विज्ञान से हमें सृष्टि में आत्मा का साक्षात् दर्शन होगा। जो-जो साहित्य यहाँ पैदा हुआ, जिससे आत्म-विद्या प्रकट हुई, उसका हमें अभिमान है।

वाणी की उक्ति

मैंने बंगाल में ताराशंकर वन्द्योपाध्याय से कहा था कि आपसे हमें शब्ददान चाहिए। उन्होंने कुछ सम्पत्तिदान दिया था। हमने कहा कि आपने सम्पत्तिदान दिया, सो तो ठीक। जो चीज आपके पास पड़ी थी और जिसका आपके पास होना जरूरी नहीं था, वह आपने दे दी। लेकिन शब्ददान दीजिये। वाणी की उक्ति बहुत बड़ी होती है। स्वच्छ निर्मल वाणी की शक्ति बहुत बड़ी है। आखिर आप इसी भूमि में पैदा हुए हैं, तो आप जायेंगे कहाँ? जो मूल है, हिन्दुस्तान का जो मूल स्रोत है, उसे छोड़कर आप कहाँ जायेंगे? शब्द तो हिन्दुस्तान के ही बने हुए हैं। आप वे ही शब्द इस्तेमाल करेंगे। उन शब्दों में जरा बारीकी से देखना होता है। उनमें कितनी सुविधा भरी हुई है। क्या पानी, क्या पेड़। पेड़ शब्द के लिए अंग्रेजी में एक ही शब्द है 'ट्री', लेकिन हमारी भाषा में तो पेड़ के लिए पचासों शब्द हैं। कहा जा सकता है कि इन पचासों शब्दों की

क्या जरूरत है, नाहक परिग्रह क्यों बढ़ाना चाहिए। लेकिन यहाँ पर पेड़ के लिए जो पचासों शब्द हैं, वह इसलिए कि वस्तु की ओर सूक्ष्म दृष्टि से देखना होता है। पृथ्वी के लिए अंग्रेजी में एक शब्द 'अर्थ' है। हाँ, इसमें भी कुछ अर्थ है—पृथ्वी अर्थमटी। पृथ्वी का मतलब है, फैली हुई। दूसरा शब्द है, धरा यानी धारण करनेवाली। तीसरा शब्द है, गुर्वी यानी भारी। चौथा शब्द है, उर्वी यानी व्यापक। पाँचवाँ शब्द है, क्षमा यानी सहन करनेवाली। तो एक ही पृथ्वी के लिए पचासों शब्द हैं। इस तरह वे लोग पृथ्वी को परमात्म-रूप में देखते थे।

सारी सृष्टि में चैतन्य

परमेश्वर के कौन-कौन गुण हैं, जो यहाँ पर प्रकट हुए हों, उन गुणों को वे देखते थे और एक-एक गुण के लिए एक-एक नाम देते थे। इस तरह एक वस्तु के पचासों गुण देखते थे। किसी कवि को लिखने में सुभीता हो इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए कि उस वस्तु के अन्दर उन्हें अनेक गुणों का दर्शन होता था। सारी सृष्टि में वे चेतन देखते थे। जैसे चेतन में अनेक गुण होते हैं, वैसे सब गुण पदार्थ में होते हैं। इसलिए एक ही वस्तु के लिए पचासों शब्द बनाये गये हैं। उन शब्दों को छोड़कर आप लिख नहीं सकते हैं। उन्हीं शब्दों के आधार पर आप लिखेंगे। आप कितने ही गये-बीते क्यों न हों, आप जो लिखेंगे, उसमें आत्म-विद्या का प्रकाशन आपके रहते-न रहते, आपके पहचानें-न पहचानते होगा। वह टल नहीं सकता। आप पर हमारी यह श्रद्धा है, क्योंकि आप 'अमृतस्य पुत्राः' हैं। आप सब लोग जो अमृत के पुत्र हैं, कितने भी मुर्दे बने हों, तो भी वह अमृत जायगा कहाँ? इसलिए हिन्दुस्तान के साहित्यिकों में कुछ बात है। यह हमारी श्रद्धा है और अनुभव भी है।

बालेश्वर (उत्कल)
६-२-'५५

तुकाराम का एक वचन है। परमेश्वर को सम्बोधित करके वह कहता है, "तेरे नाम की महिमा तू नहीं जानता, हम जानते हैं।" वैसे ही साहित्यिकों की महिमा साहित्यिक नहीं जानते। जो अपने लिए अभिमान रखनेवाले साहित्यिक होते हैं, वे साहित्य का भी अभिमान तो रखते होंगे, परन्तु उसकी महिमा नहीं जानते। वे यदि साहित्य की महिमा जानते होते, तो अभिमान न रखते। साहित्य की महिमा विशाल है। मुझे साहित्य की महिमा का भान इसलिए है कि मैं साहित्यिक नहीं हूँ। साहित्यिक न होनेभर से उसकी महिमा का भान होता है, ऐसी बात नहीं। एक अवसर होता है। किसीको हासिल होता है, किसीको नहीं। मुझे वह अवसर हासिल हुआ—अनेक भाषाओं के साहित्य का आस्वादन करने का। हरएक भाषा का जो विशेष साहित्य है, वही मेरे पढ़ने में आया है। उसका असर भी मुझ पर बहुत हुआ है। इसलिए बेनीपुरीजी ने बिहार में जो बात कही—जहाँ मैं जाऊँ, वहाँ के साहित्यिकों को बुलाने की—वह मुझे सहज ही हृदयग्राह्य हुई।

साहित्य यानी अहिंसा

मैं अपने मन में साहित्य की व्याख्या करता हूँ—"साहित्य यानी अहिंसा।" अब यह सुनकर लोग कहेंगे कि यह तो खब्ती है, हर जगह अहिंसा लाता है। परन्तु साहित्यकारों ने भी उसकी व्याख्या की है कि सर्वोत्तम साहित्य 'सूचक' होता है। 'सूचक साहित्य' को सर्वोत्तम क्यों माना जाता है? इसलिए कि वह सुननेवालों पर आक्रमण नहीं करता। किसी पर अगर उपदेश का प्रहार होने लगे, तो यद्यपि वह उपदेश हितकर हो, फिर भी उसका स्पर्श शीतल नहीं होता। बचपन में हम ईसप की

नीति-कथाएँ पढ़ते थे, उनका तात्पर्य नीचे लिखा हुआ होता था। तात्पर्य यानी न पढ़ने का अंश, ऐसा हम समझते थे। कथा का तात्पर्य अगर चन्द शब्दों में लिखा जा सका, तो मैं समझूँगा कि कथा लिखनेवाले में कोई कला नहीं है।

साहित्य-बोध का अर्थ

उत्तम कृति का लक्षण यही है कि जैसे रामचन्द्र को देखने पर अनेक लोगों ने अनेक कल्पनाएँ अपनी-अपनी भावना के अनुसार कीं, वैसे ही जिस बोध से अनेकविध तात्पर्य निकलते हैं, वही साहित्य-बोध है। कानून की किताब में इससे बिलकुल उलटी बात होती है। एक वाक्य में से एक ही अर्थ निकलना चाहिए, दूसरा नहीं निकलना चाहिए। अगर एक वाक्य से दो अर्थ निकले, तो वकीलों की कम्बख्ती आ जाती है। पर साहित्य की प्रकृति इससे बिलकुल उलटी होती है। गीता उत्तम साहित्य है, रामायण उत्तम साहित्य है; क्योंकि उनके तात्पर्य के विषय में मतभेद है। साहित्य के तात्पर्य के जिस विषय में मतभेद न हो और तात्पर्य निश्चित कहा जा सके, उसमें साहित्य-शक्ति कम प्रकट होती है।

प्रसिद्ध ऋषि-वाक्य है—'परोक्षप्रियाः इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।' देव परोक्षप्रिय होते हैं। उन्हें परोक्षवाणी पसन्द आती है, प्रत्यक्षवाणी पसन्द नहीं आती। इसका मर्म भी यही है कि प्रत्यक्ष उपदेश में कुछ चुभने का माद्दा होता है। वाल्मीकि की रामायण जब हम पढ़ते हैं, तो उसमें बहुत ज्यादा उपदेश के वचन नहीं आते; कथा-गंगा बहती जाती है, मनुष्य उसके साथ-साथ बहता जाता है। अनेक मनुष्यों को अनेकविध तात्पर्य प्राप्त होते हैं और एक ही मनुष्य को समयानुसार अनेकविध तात्पर्य प्राप्त होते हैं। साहित्य की विशेषता इस विविधता में है। इसलिए जब हम साहित्यिकों से कुछ अपेक्षा रखते हैं, तो इसका मतलब यह नहीं कि वे अपनी विशेषताओं को छोड़कर हमारा काम करें। उनकी विशेषता यही है कि साहित्य से विविध बोध मिलते हैं।

वाल्मीकि की प्रेरणा

ईश्वर के प्रेम के बारे में भक्तजन कहते हैं कि वह प्रेम अहेतुक होता है, उसमें हेतु नहीं होता। प्रेम करना ईश्वर का स्वभाव है। वैसे ही साहित्य में भी कोई हेतु नहीं होता। साहित्य स्वयम्भू वस्तु है। लेकिन हेतु मन में है तो नहीं सध सकता, वह साहित्य में बिना हेतु रखकर सधता है, यह साहित्य की खूबी है। गीता भी मुझे इसीलिए प्यारी है कि वह हेतु न रखना सिखाती है। वह एक ऐसा ग्रन्थ है, जो यहाँ तक कहने का साहस करता है कि निष्फल कार्य करो। निष्फल कार्य की प्रेरणा देनेवाला ऐसा दूसरा ग्रन्थ दुनिया में मैंने नहीं देखा। साथ-ही-साथ वह (गीता) जानती है कि जिसने फल की आशा छोड़ी, उसे अनन्त फल प्राप्त होता है। वाल्मीकि-रामायण के आरम्भ की ऐसी ही कहानी है। शोकः श्लोकत्वमागतः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः—क्रौंच-मिथुन का वियोग वाल्मीकि को सहन नहीं हुआ, शोक हुआ और उसकी वाणी से सहज ही श्लोक निकल पड़ा। उसे मालूम भी नहीं था कि उसका शोक श्लोकाकार बना। बाद में नारद ने आकर कहा, "तेरे मुँह से यह श्लोक निकला है। इसी अनुष्टुप् छन्द में रामायण गाओ।" फिर सारी रामायण अनुष्टुप् छन्द में गायी गयी। सहानुभूति की प्रेरणा से काव्य पैदा हुआ और शोक का श्लोक बना।

शम और श्रम का संयोग

मैंने साहित्य की जो व्याख्या की, उसमें भी यही विशेषता है। साहित्य में ऐसी शक्ति है कि उससे श्रम का शम बन जाता है। बिना श्रम के कोई भी महत्त्व की चीज नहीं बनती, लेकिन साहित्य में श्रम को शम का रूप आता है। दूसरी चीजों में मनुष्य को आराम की भी आवश्यकता होती है। वहाँ श्रम और आराम परस्परविरोधी होते हैं। मनुष्य श्रम से थकता है, तो उसके बाद आराम लेता है और आराम से थकता है—आराम की भी थकान होती है—तो उसके बाद फिर श्रम करने

लगता है। लेकिन साहित्य की यह खूबी है कि उसमें श्रम के साथ-साथ शम चलता है। चौबीसों घण्टे काम और चौबीसों घण्टे आराम, यह है साहित्य की खूबी। साहित्य का चित्त पर कोई बोझ नहीं होता।

साहित्य की सर्वोत्तम संज्ञा

साहित्य की सर्वोत्तम संज्ञा, उसका सर्वोत्तम संकेत मुझे आकाश में दीखता है। आकाश-दर्शन की किसीको कभी थकान नहीं होती। खुला आसमान निरन्तर आपकी आँख के सामने होता है, फिर भी आँख थक गयी, ऐसा कभी मालूम नहीं होता। आकाश के समान व्यापक, अविरोधी और गति देनेवाला होता है साहित्य। फिर भी ठोस भरा हुआ। यह भी आकाश का ही वर्णन है। ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ आकाश न हो। जहाँ कोई ठोस वस्तु नहीं है, वहाँ भी आकाश है और जहाँ ठोस वस्तु है, वहाँ भी आकाश है। ठोस वस्तु नापने का वही मापक है। ट्रेन में जब हम बैठने जाते हैं, तो भीतर के पैसेंजर कहते हैं, यहाँ जगह नहीं है। इसका मतलब यह होता है कि यहाँ जगह तो है, परन्तु वह व्याप्त है। आकाश ऐसी व्यापक वस्तु है। जहाँ कोई चीज नहीं है, वहाँ भी वह है और जहाँ कोई चीज है, वहाँ भी वह है। साहित्य का स्वरूप भी आकाश जैसा ही व्यापक है। इसलिए आकाश ही साहित्य की सर्वोत्तम संज्ञा है।

साहित्य-सेवन की थकान नहीं आनी चाहिए। हम सुन्दर-मधुर संगीत सुनते हैं, तो 'अब बस!' नहीं कहते। जहाँ 'अब बस' आ गया, वहाँ समझना चाहिए कि वह चीज मनुष्य को थकान देनेवाली है। साहित्य के लिए भी जहाँ 'अब बस' आ गया, वहाँ समझना चाहिए कि साहित्य की शक्ति कम है, वह पूरी प्रकट नहीं हुई है।

अनुकूल ही परिणाम

साहित्य की एक व्याख्या यह है कि उसका हमेशा अनुकूल ही परिणाम होता है। पर यह तो तब बन सकता है, जब प्रतिक्षण नया अर्थ

देने की क्षमता उसमें हो। जिसको दूध प्रिय है, उसे गाय प्रिय होती है, पर बिना दूध की गाय प्रिय नहीं होती। जिसे दूध प्रिय नहीं, उसे दूध देनेवाली गाय भी प्रिय नहीं होती! लेकिन ऐसी कोई कामधेनु हो, जो हर चीज देती हो, तो वह सबको सदा-सर्वदा प्रिय होती है। साहित्य ऐसी कामधेनु है। उसमें से अपनी इच्छा के अनुसार बहुत कुछ मिल जाता है।

'द' का मेरा अपना अर्थ!

उपनिषद् में 'द' की कहानी आती है। एक ही 'द' अक्षर का दम, दान और दया, ऐसा तीन तरह का अर्थ किया गया है। देव, मनुष्य और असुर, तीनों ने अपनी भूमिका के अनुसार बोध लिया। फिर मैंने सोचा, 'द' का मैं क्या अर्थ लूँ? यद्यपि मैं हिन्दी में बोल रहा हूँ, फिर भी मेरा मन मराठी है, इसलिए मैं मराठी में सोचता हूँ। तो मैंने सोचा कि विन्या के लिए 'द' का अर्थ क्या हो सकता है? असुरों के लिए उसका अर्थ दया होता है, देवों के लिए दमन होता है, तो विन्या के लिए 'द' याने 'दगड'! दगड यानी पत्थर! अब यह अर्थ न देवों को मालूम था, न असुरों को मालूम था, न उपनिषद्‌कारों को ही। यह शुद्ध मराठी अर्थ है—'द' याने दगड। मैं दगड, पत्थर के समान बन जाऊँ। कोई पचास प्रहार करे, तो भी हर्ज नहीं। वह मूर्ति भी बन सकता है और ठोकर भी दे सकता है। इतना सारा 'द' का अर्थ मुझे मालूम था और जब यह अर्थ मुझे सूझा, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

स्वल्पाक्षर साहित्यिक

उत्तम साहित्यिक शब्द-स्वल्पाक्षर होते हैं। बहुत पानी डालकर फैलाये हुए नहीं होते। स्वल्पाक्षर होते हैं, याने थोड़े में अधिक सूचकता होती है और उनमें अनाक्रमणशीलता होती है, जिससे सहज ही बोध मिले। व्यक्ति बोध लेना चाहे, तो ले सकता है और न लेना चाहे, तो नहीं भी ले सकता है। हर वक्त बोध लेना पड़े, तो मुश्किल होगी, इसलिए

जब बोध लेना चाहे, तभी ले सकता है। [illegible] बोध मिले और बोध न भी मिले, तो भी जो प्रिय हो, वही अच्छा साहित्य है।

कवि की व्याख्या

एक बार मैं बहुत बीमार था। कभी-कभी रामजी का नाम लेता था, कभी माँ का। अब मेरी माँ तो उस समय जिन्दा नहीं थी। मैं मन में सोचने लगा कि उस माँ का मुझे क्या उपयोग है, जो जिन्दा नहीं है और मुझे कितनी भी तकलीफ क्यों न हो, उसे मिटाने के लिए नहीं आ सकती। फिर भी मैंने उस शब्द का उपयोग किया। माँ के मरने पर भी 'माँ' शब्द के उच्चारण से उसके पुत्र को बीमारी में प्रसन्नता होती है और उस शब्द से ही उसे अपना अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। वह ऐसा शब्द है, जिसमें काव्य की सीमा होती है।

ऐसे शब्द हमारे देश में, हमारी भाषाओं में बहुत हैं। इसलिए यहाँ लोग अनिच्छा से भी कवि बनते हैं। वे शब्द ही ऐसे होते हैं, जो अनेकविध प्रेरणा देते हैं। इसलिए मनुष्य चाहे या न चाहे, वह कवि बन जाता है। मेरा खयाल है कि भारतीय भाषाओं में जितनी काव्य-शक्ति है, उसकी तुलना मे दुनिया की दूसरी भाषाओं में कम है। हाँ, अरबी और लैटिन में है। संस्कृत में यह सामर्थ्य बहुत ज्यादा है, क्योंकि वह भाषा काफी प्राचीनकाल में निर्माण हुई है। इसलिए मनुष्य आज जिस तरह स्पष्ट रूप में सोचता है, वैसा उस समय नहीं सोचता था, अस्पष्ट रूप में सोचता था। जहाँ मनुष्य अस्पष्ट रूप में सोचता है, वहाँ बहुत ज्यादा सोचता है। जहाँ स्पष्ट सोचता है, वहाँ निश्चितता आ जाती है और व्यापकता कम हो जाती है, जैसे स्वप्न में स्पष्टता नहीं होती। परन्तु स्वप्न में जो विविधता होती है, वह दुनिया में जो विविधता है, उससे भी ज्यादा होती है। सृष्टि में जो है, वह सब स्वप्न में है और सृष्टि में जो नहीं है, वह भी स्वप्न में है। स्वप्न के पेट में जाग्रति होती है। कवि की सारी सृष्टि स्वप्नमय होती है। उसका चिन्तन सूक्ष्म, अव्यक्त और अस्पष्ट होता है।

व्यावहारिक भाषा में कवि याने झूठे। कुरान में भी मुहम्मद पैगम्बर कई बार बोले हैं, "मैं कवि थोड़ा ही हूँ!" मेरी समझ में नहीं आता था कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा होगा। फिर एक जगह उनका एक वचन मिला कि "मैं कवि थोड़ा ही हूँ, जो बोले एक और करे एक!" कहा जाता है कि कुरान में बहुत काव्य है। अरबी साहित्य में उसे साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है। यह कोई केवल काल्पनिक गौरव की बात नहीं है। कुरान धार्मिक पुस्तक है, इसलिए ऐसा कहा होगा, सो बात नहीं। आधुनिक अरबी साहित्य को कुरान से सारी स्फूर्ति मिलती है। इतना होने पर भी उन्होंने कहा, "मैं कवि थोड़ा ही हूँ, जो बोले एक और करे एक!" इसका एक मतलब यह कि मैं जो बोलूँगा, वह करूँगा; इसलिए मैं कवि नहीं हूँ। इसे उपालम्भ मानने के बजाय हमने अधिक सुन्दर अर्थ निकाला है। उसका अर्थ यह कि "आप लोगों के सामने मैं एक स्पष्ट चिन्तन रखनेवाला हूँ, जिससे कि आपको हिदायत मिले।"

कवि का चिन्तन तो हमेशा अस्पष्ट होता है। उसके काव्य की गहराई को वह खुद नहीं जानता। उस पर परस्परविरोधी भाष्य किया जा सकता है। अगर किसी कवि ने अपनी कविता पर कोई भाष्य लिखा, तो मैं उससे बिल्कुल विरुद्ध भाष्य लिख सकता हूँ और सम्भव है कि लोग मेरा भाष्य कबूल करें और शायद वह खुद भी कबूल करे! कवि को जो सूझता है, वह उसके स्पष्ट चिन्तन के बाहर की चीज है। कोई चीज उसे प्राप्त होती है। वह कुछ बनाता नहीं, कुछ रचना नहीं करता। सहज ही उसको चीज मिल जाती है, उसकी झाँकी मिल जाती है। कवि को क्रान्तदर्शी कहा है: 'कविः क्रान्तदर्शी'। कवि दूर की देखता है, ऐसा कुछ लोग उसका अर्थ लगाते हैं। हाँ, वह भी हो सकता है। परन्तु उसका एक अर्थ यह भी है कि कवि बहुत ही अस्पष्ट देखता है। जो स्पष्ट वस्तु है, उसे तो हर कोई देखता है, पशु भी देखता है। पशु का मतलब यही है कि जो देखता है, वह पशु है—'पश्यति इति पशुः'। जो देखता है, बिना देखे जिसे भरोसा नहीं होता, चिंतन से कोई बात नहीं मानता, कहता है,

सबूत दिखाओ, वे पशु होते हैं। वह मनुष्य है। कवि में वह मनुष्य नहीं होता। इसलिए उसकी वाणी में विविध दर्शन होता है।

अभी बेनीपुरीजी ने बताया है कि हम भूदान-यज्ञ में मदद करना चाहते हैं। कोई साहित्यिक वास्तव में मदद करेगा, तो मालूम ही नहीं होगा। अगर फलाने उपन्यास में विनोबा को मदद की गयी है, ऐसा मालूम हो गया, तो वह असफल है। जिसमें पता ही न लगे, वही उत्तम मदद है। जैसे ईश्वर की स्थिति है। वह मदद देता है, तो उसका भान ही नहीं होता। वह बिना हाथ के देगा, बिना आँख के देखेगा, बिना कान के सुनेगा, बिना लेखनी के लिखेगा। सर्वोत्तम कवि वह हो सकता है, जिसने कुछ भी न लिखा हो! जिसने कुछ नहीं लिखा हो, वह कवि ही नहीं है। महाकवि वह हो सकता है, जिसके हृदय में इतना काव्य भर गया है कि वह प्रकट ही नहीं कर सकता।

'साहित्य' प्रकाशित नहीं होता है

इसका अर्थ यह नहीं कि जिसने कुछ भी नहीं लिखा, वह कवि होता है। एक महाकवि ऐसा हो सकता है, जिसकी काव्य-दृष्टि बहुत गहरी होने के कारण प्रकाश में नहीं आ सकती, वाणी में और प्रकाशन में नहीं आ सकती। जब हम इस दृष्टि से देखते हैं, तो लगता है कि साहित्य का एक लक्षण यह है कि साहित्य प्रकाशित नहीं हो सकता। आजकल तो हर कोई साहित्य को प्रकाशित करने की बात सोचता है, परन्तु यह प्रकाशन की बात नहीं है। साहित्य हमेशा अप्रकाशित होता है।

सहचिन्तन कीजिये

इन दिनों तो साहित्यिकों को इनाम भी दिया जाता है। हमको भी इनाम मिला है। हमको याने हमारे प्रकाशक को! इन दिनों किसके सिर पर इनाम आकर गिरेगा, कोई भरोसा नहीं। इसलिए जब कभी हम साहित्यिकों की मदद के लिए अपील करते हैं, उनके पास पहुँचते हैं, तो हम इतना ही चाहते हैं कि आप हमारे साथ सहचिन्तन कीजिये। हम ऐसा

चिंतन करते हैं, उसमें आप शरीक हो जाइये, यही हमारी माँग है। मानव के लिए यह बात सहज है, उसका यह स्वभाव है।

हम आम खाते हैं, तो पास बैठे हुए मनुष्य को दिये बगैर नहीं खा सकते। इतना ही नहीं, पड़ोसी को बुलाकर खिलाते हैं। जो दूसरे को बिना बुलाये खायेगा, वह रसिक नहीं है। जो अपने रस में दूसरे को शरीक करता है, वही 'रसिक' है। इसलिए जब हम साहित्यिकों को बुलाते हैं, तो कहते हैं कि हम अकेले ही रस लेते जायँ, यह अच्छा नहीं। आप रसिक हैं, इसलिए आप भी शरीक हो जाइये। शरीक होने पर आप चाहे काव्य लिखिये या न लिखिये, हमें बहुत मदद होगी।

मेरी तो मान्यता है कि जिन्होंने उत्तम काव्य लिखे, वे उतने उत्तम कवि नहीं थे, जितने कि वे हैं, जिन्होंने कुछ नहीं लिखा। जो महापुरुष दुनिया को मालूम हैं, वे उतने बड़े नहीं हैं। उनसे भी बड़े वे महापुरुष हैं, जो दुनिया को मालूम नहीं हैं। 'अव्यक्तलिंगाः अव्यक्ताचाराः'। ज्ञानी का आचार अव्यक्त होता है, वह प्रकट नहीं होता। मालूम ही नहीं होता कि वह ज्ञानी है। आप हमारे अनुभव में शरीक हो जाइये, इतनी ही हमारी माँग है। शरीक हो जाने पर उसका प्रकाशन हो या न हो, शब्दों में हो या कृति में हो, एक प्रकार के शब्द में हो या दूसरे प्रकार के शब्द में हो, एक प्रकार की कृति में हो या दूसरे प्रकार की कृति में हो, इतने सारे प्रकार के प्रकाशन हों या अप्रकाशन भी हों, तो उन सबसे हमें मदद मिलेगी, अप्रकाशन से ज्यादा मदद मिलेगी। हम इतना ही चाहते हैं कि आप हमारे साथ, हमारे अनुभव में समभोगी, रसभोगी हो जाइये। फिर वह शब्द में या कृति में प्रकट न हो सका, तो हमें सबसे ज्यादा मदद मिलेगी। वह चीज आपके संकल्प में रहेगी और आप हमारे अत्यन्त निकट होंगे।

आवाहन का भार नहीं

इसलिए जब हम साहित्यिकों से आवाहन करते हैं, तो साहित्यिकों पर हमारे आवाहन का कोई भार नहीं है। अगर किसीको महसूस हुआ कि

विनोबा ने हम पर बड़ी भारी जिम्मेवारी डाली है. तो वह क्या साहित्य लिखेगा ? साहित्यिक बोझ नहीं उठा सकता और हम किसी पर बोझ नहीं डालेंगे। हम इतना ही कह रहे हैं कि हमारे साथ हरेक हृदय में उस रस की अनुभूति में आनन्द है। हम चाहते हैं कि आपको भी वह आनन्द प्राप्त हो! इसीका नाम है, साहित्यिकों का आवाहन और साहित्यिकों की मदद।

साहित्य वीणा की तरह है

साहित्य वीणा की तरह है। कुछ लोग समझते हैं कि वीणा बजानेवाला जोर से बजावे, तभी श्रोताओं पर असर होता है। परन्तु जो उत्तम कलाविद् होते हैं, वे बिल्कुल महीन आवाज से बजाते हैं, जैसे हृदयतन्त्री पर बजा रहे हों। एक बार मैं ऐसा ही वीणा-वादन सुन रहा था। अतिशान्त आवाज, जैसे ओंकार की ध्वनि सुनाई दे रही थी। जिनमें रस ग्रहण नहीं था, वे कहते थे कि वह कुछ बजा भी रहा है या नहीं! हमें तो कुछ सुनाई नहीं दे रहा है। परन्तु मुझे जरा संगीत का कान है, इसलिए मुझे आनन्द आ रहा था। कुछ लोग समझते हैं कि बजानेवाला पसीना-पसीना हो जाय, तभी उसने अच्छा बजाया! लेकिन वह तो इस तरह बजा रहा था कि जरा थोड़ी-सी तार छेड़ी, फिर शान्त रहा। फिर एक तार छेड़ी।

[illegible] की मांग

एक दफा एक गुरु के पास एक शिष्य पहुँचा। शिष्य ने कहा, "आत्मा क्या है, हम जानना चाहते हैं।" गुरु शान्त रहे। शिष्य ने दुबारा पूछा, फिर भी गुरु शान्त ही रहे। इस तरह तीन बार पूछा गया और तीनों बार गुरु शान्त ही रहे। चौथी बार शिष्य ने कहा, "हमने तीन-तीन बार पूछा और आप उत्तर नहीं देते हैं!" गुरु ने कहा, "हमने तीन-तीन दफा उत्तर दिया और ऐसे उत्तम तरीके से दिया कि इससे बेहतर तरीका हो नहीं सकता, तो भी तू नहीं समझा? जो न बोलने से भी नहीं समझता,

है बोलने से कैसे समझेगा ?" उसी तरह साहित्यिक से भी हम कहेंगे कि "अरे कमबख्त ! न लिखने पर भी तू नहीं समझ सकता है, तो लिखने पर कैसे समझेगा ?" इसलिए हमने जो साहित्यिकों से मदद माँगी है, वह केवल सहानुभूति माँगी है, हृदय की सहानुभूति माँगी है। इसलिए उसका बोझ या भार नहीं महसूस होना चाहिए। फिर इनाम-विनाम देने की जिम्मेदारी हम पर मत डालना। हम यही चाहते हैं कि सहज भाव से हृदय के साथ हृदय जोड़ दिया जाय।

पुरी
२६-३-'५५

साहित्यिकों के पोषण का प्रश्न : ८ :

साहित्य कुछ विचित्र स्वभाववाली वस्तु है। उसको पोषण देते हैं, तो सूख जाता है, और पोषण नहीं देते हैं, तो भी सूख जाता है। बीच की जो हालत है, जिसमें पोषण दिया भी जाता है और नहीं भी दिया जाता, ऐसी हालत में ही वह जिंदा रहेगा।

कुछ बड़े साहित्यिक गरीब थे। तमिलनाड के भारती बहुत गरीब थे। पर वे दीन नहीं थे। परमेश्वर दरिद्रता देता है, तो हमारी कसौटी के लिए ही। अगर हम दीन नहीं बनते हैं, तो उसकी परीक्षा में पास होते हैं। वैसे ही किसीको परमेश्वर श्रीमान् बनाता है, तो भी परीक्षा लेने के लिए। गरीबी और वैभव, दोनों ईश्वर की देन हैं। ईश्वर हमें दारिद्र्य या वैभव देता है, तो हमारी आजमाइश के लिए ही।

हम मानते हैं कि जिसे हम सरकार या राजदरबार कहते हैं, उसने जिनको पोषण दिया, उनसे जो भी उत्तम-से-उत्तम साहित्य मिला है, वह भी दूसरे दर्जे का है। वाल्मीकि या तुलसीदास दरबारी कवि नहीं हो सकते थे। दरबारी कवियों का उत्तम नमूना है, कालिदास। लेकिन कालिदास एक छोटा-सा उद्यान है। अच्छा बनाया हुआ, सुन्दर, परन्तु उद्यान है। और वाल्मीकि तो जंगल है। वन और उपवन में जो फर्क होता है, वह उन दोनों में था। फिर भी कालिदास स्वतन्त्र वृत्ति का कवि था।

उन दिनों कवियों को राजाश्रय दिया जाता था और उनका काफी आदर होता था। पर कवि आश्रित नहीं माना जाता था, बल्कि आश्रय देनेवाला ही मानता था कि कवि ने हमको आश्रय दिया है; कवि हमारे पास रहता है, इसीका वे लोग उपकार मानते थे।

कुछ लोगों का तो कहना है कि राम का इतना जो बड़ा फैला,

उसका कारण है, उनके पास एक कवि का होना। वाल्मीकि ने उनका यश फैलाया। वैसे रावण भी तो बड़ा था; लेकिन उसका यश फैलाने-वाला कोई कवि उसे नहीं मिला। इसलिए कवि राजाओं के पास आश्रय के लिए नहीं जा सकते।

जनता के साथ एकरूपता

मैं मानता हूँ कि कवि को क्लर्की जैसी नौकरी का आधार मिले, तो वह आधार उसे तोड़नेवाला ही होगा। कवि के लिए क्लर्क बनना तकलीफदेह है, परन्तु उसके लिए किसान बनना तकलीफदेह नहीं है। कुदरत के साथ एकरूप होनेवाला धन्धा कवि को चाहिए। बड़े-बड़े जो कवि हुए, वे किसान थे, बढ़ई थे। वे छोटे-छोटे उद्योग करते थे, जिनमें थोड़ी आमदनी तो हो जाती थी, लेकिन नाहक दिमाग को तकलीफ नहीं होती थी। ऐसे कवियों का ही साहित्य फलता है, फूलता है। मैं मानता हूँ कि कवि को दस घण्टे श्रम करना पड़े, तो वह अन्य काम नहीं कर सकता, लेकिन दस घण्टे तो वह व्यक्ति श्रम करेगा, जो पैसा चाहता है। कवि लोग चार घण्टे खेती में काम करें, तो उनके लिए वह पर्याप्त है। समाज जितना खेती के साथ एकरूप होगा, उतना काव्य बढ़ेगा। कवि की संख्या बढ़े या न बढ़े, परन्तु काव्य बढ़ेगा।

कबीर कबीर कैसे बना ?

कबीर बुनकर न होता, तो कबीर न बनता। उस जमाने में छापा-खाना नहीं था। लेकिन उसके बिना ही उसके काव्य का प्रचार हुआ, क्योंकि वह जनता के उद्योग के साथ एकरूप था, इसलिए जनता के सुख-दुःख को वह समझता था। जनता के हृदय के साथ भी वह एकरूप था। इसलिए मैं मानता हूँ कि साहित्यिक या तो किसान हो सकता है या कोई उद्योग कर सकता है या फकीर भी हो सकता है, जो कि केवल जनता पर निर्भर रहे। ऐसे फकीरों को तो खाना मिले, तो भी स्फूर्ति होती है, खाना न मिले, तो भी स्फूर्ति होती है। खाना न मिलने पर जो दुःख या करुणा हृदय में पैदा होती है, वह भी काव्य की प्रेरक बनती है।

इस तरह साहित्यिक को पूर्ण विरक्त या सृष्टि का उपासक भक्त, इन दोनों में से एक बनना चाहिए। जो बीच के लोग हैं, याने जो पूर्ण विरक्त भी नहीं हैं और सृष्टि के उपासक भी नहीं हैं, उनको कुछ आश्रय चाहिए। लेकिन ऐसा आश्रय चाहिए, जिससे कि उन्हें स्फूर्ति के लिए अवकाश मिले।

केवल सहानुभूति ही नहीं, करुणा भी

अब पुराने राजाओं के दिन लद गये। अब दिन आये हैं, जन-समाज की सेवा के। इसलिए सेवा करनेवालों को कुछ मदद मिलेगी। मुख्य मदद तो जनता से ही मिलनी चाहिए। जिनके पास वाणी, विचार और दर्शन तीनों हैं, ऐसे प्रतिभावान् पुरुषों को जीवन के लिए कुछ दिया जाय, तो हम उन पर उपकार नहीं करते, बल्कि हमों पर वे उपकार करते हैं। इस भावना से समाज के दस-पाँच लोग ऐसे एक-एक कवि का भार उठा लें। क्या ऐसे कवियों को दस-पाँच भक्त भी नहीं मिल सकते हैं! परन्तु आज हम लोग सिर्फ हमदर्दी दिखाते हैं। रेल में अगर किसीको कोई पीड़ा दे रहा हो, तो हम सिर्फ तमाशा देखते रहते हैं। सारे लोग सिर्फ सहानुभूति दिखाते हैं। सहानुभूति है, पर करुणा नहीं। करुणा में करने की बात है, क्योंकि 'कृ' धातु से यह शब्द बना है। तो, आज करुणा कहीं नहीं दीख रही है।

सम्पत्ति-दान-यज्ञ द्वारा एक हल

इसलिए हमारा जो सम्पत्ति-दान-यज्ञ है, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कम्युनिस्ट लोग टीका करते हैं कि "विनोबाजी को न जमीन चाहिए, न सम्पत्ति। उन्हें तो सिर्फ कागज चाहिए।" हम सम्पत्ति की उतनी कीमत नहीं करते, जितनी इस कागज की करते हैं। इस कागज में हम उस दान देनेवाले से लिखा लेते कि जब तक हम जीवित रहते हैं, तब तक हम अपने कुटुम्ब पर जितना खर्च करते हैं, उसका एक हिस्सा दान देंगे। हमें आधा ही खाना मिला, तो उसका भी एक हिस्सा देंगे। इसमें है

भी कोई हिस्सा दें, यह हम चाहते हैं। उस आदमी को हम सिर्फ निर्देश करें कि पैसा कैसे खर्च हो। पैसा उसीके पास रहेगा।

'आनरेरियम' दिया जाय

हम मानते हैं कि सारा पैसा हमारा है और वह हर घर में बँटा हुआ है। कोई छठा नहीं, आठवाँ या दसवाँ हिस्सा दे, तो भी हर्ज नहीं। हम चाहते यह हैं कि घर में एक मनुष्य और है, ऐसा समझकर उसके वास्ते अपना खर्च करने का कर्तव्य माने जाने की बात चलनी चाहिए। अगर यह बात चली, तो जहाँ भी ऐसा कोई अच्छा मनुष्य हो, उसके लिए दस-पाँच व्यक्ति एक-एक हिस्सा देंगे। उसका रूप 'आनरेरियम' का होगा। याने जिसे दिया जायगा, सम्मानपूर्वक दिया जायगा। ऐसी हालत में वह लेनेवाला भी गलत खर्च नहीं करेगा, न ज्यादा लेगा। इससे उसका भी जीवन पवित्र बनेगा और देनेवाले का भी। आदर, कर्तव्य इत्यादि पवित्र भावनाओं के साथ ही वे दान देंगे।

चार आवश्यक बातें

इसलिए साहित्यिकों को एक तो तुलसीदास, वाल्मीकि आदि की कोटि का विरक्त पुरुष बनना चाहिए, तो साहित्य फैलेगा। दूसरी बात यह है कि आपको किसान बनना चाहिए या वैसे ही छोटे-छोटे उद्योग करने चाहिए। तीसरी बात यह है कि सरकार की तरफ से साहित्यिकों को कुछ मिलना चाहिए, लेकिन इसमें अभी देर है। चौथी बात है, सम्पत्ति-दान। जहाँ पन्द्रह हजार कुटुम्ब हों, वहाँ सब अपना पन्द्रहवाँ हिस्सा दें, तो एक हजार कुटुम्बों का पोषण होगा। समाज की सेवा करनेवाले एक हजार कवियों और वैज्ञानिकों के कुटुम्बों को अकेला गया जैसा शहर भी पोषण दे सकता है। हमें इसी प्रवृत्ति को बढ़ाना है।

स्वाभाविक पोषण आवश्यक

कवि को ज्यादा पोषण न हो और कम भी न हो। उसे कृत्रिम पोषण नहीं मिलना चाहिए। जैसे माँ का दूध बच्चे को सहज ही मिल

जाता है, वैसा पोषण कवि को मिले। लेकिन अगर माँ बच्चे को अपना गोश्त खिलायेगी, तो बच्चा वह नहीं खा सकेगा। इसलिए कवि को पराभृत नहीं होना चाहिए। इससे वह सूखेगा। उसको उतना ही मिलना चाहिए, जिससे उसका शरीर, मन और प्राण कायम रहें। पुराने जमाने में भिक्षा चलती थी। लेकिन मुझे वह पसन्द नहीं है, क्योंकि उसमें देनेवाला श्रद्धा से नहीं देता। इस जमाने में तो भिक्षा देनेवाला टालने की वृत्ति से ही देता है, और गालियाँ देकर मुट्ठीभर अनाज मात्र दे देता है। इसलिए भिक्षा नहीं चाहिए। इसलिए सम्पत्ति-दान चलाइये। इसमें बड़े-छोटे, सब हाथ बँटायें। जो कोई खाता है, उसे उसका एक हिस्सा देना चाहिए। उस हिस्से में से फिर ऐसे समाज सेवकों का पोषण सुविधा से हो सकता है।



दग्ध साहित्य और जीवित वाङ्मय : ९ :

ईश्वर और उसकी प्रकृति, दोनों ही अनादि हैं। जब से ईश्वर है, तभी से प्रकृति भी है। प्रकृति का होना ही ईश्वर का ईश्वरत्व है। प्रकृति में से अनेकविध सृष्टि उत्पन्न होती है और उसीमें वह विलीन हो जाती है। ऐसी अनेक सृष्टियाँ आती हैं और जाती हैं; प्रकृति कायम रहती है। सृष्टि के बाद मनुष्य आता है। वह सृष्टि का ही एक भाग होता है, और स्रष्टा का एक अंश। सृष्टि से उसकी देह का धारण होता है और सृष्टि से उसके हृदय का पोषण। मनुष्य के लिए अन्न का कोठार और बोध का खजाना, ऐसे दुहरे रूप में सृष्टि सजी है।

सृष्टि और मानव के बीच परदा नहीं है। मानव सृष्टि में से सीधे बोध ग्रहण कर सकता है और वह आज तक इस तरह करता आया है। यही बोध वाणी में उतरकर वाङ्मय, और सरस्वती की कृपा पाकर सारस्वत बनता है। सरस्वती के विशेष कृपापात्र महापुरुष औरों के लाभ के लिए ग्रन्थ-रूप में ऐसा सारस्वत संचित कर रखते हैं। यह संचय मानव की अमूल्य निधि है।

हितैषी धर्मशास्त्र

मानव अपने अनुभव का लाभ अपने बान्धवों को दे, यह दया का ही कार्य है। लेकिन उसकी भी मर्यादाएँ हैं। तू अमुक कर और अमुक मत कर, इस तरह सीधा-संगीन उपदेश एक तरह का आक्रमण हो जाता है। ऐसा आक्रमण सहन हो सकता है, मीठा भी लग सकता है, अगर वह माता-पिता या गुरु की तरफ से हो। तीनों नातों से बोध कर सकनेवाले हितैषी धर्मशास्त्र इस तरह के प्रत्यक्ष और निश्चित, विध्यर्थ और आज्ञार्थ, उपदेश देते रहते हैं।

मध्यस्थ लेखन-शैली

लेकिन औरों को वैसा अधिकार नहीं होता, इसलिए वाङ्मय की मीमांसा करनेवाले साहित्यकार, बोध को मार करनेवाले साहित्य को, यद्यपि वह बोध समुचित होता है, गौण समझते हैं और सूचक साहित्य को प्रथम स्थान देते हैं। साहित्यकारों की यह दृष्टि एक अहिंसक सूक्ष्म-दृष्टि है, ऐसा मैं समझता हूँ। जैसे प्रत्यक्ष रेखाबद्ध और लीक-लीक बोध से दूसरे पर आक्रमण होता है और इसलिए इसमें एक प्रकार की हिंसा हुआ चाहती है, वैसे ही सूचक बोध भी अगर अति गूढ़ में हो गया, तो मनुष्य की बुद्धि को सतावेगा और उसमें एक दूसरे प्रकार की हिंसा की सम्भावना होगी। इसलिए अहिंसा से रंगे हुए सरस्वती-पुत्रों की लेखन-शैली, सुझाने किन्तु न चुभानेवाली, मध्यस्थ होती है। इस तरह उभय मर्यादाओं को सँभालकर जो वाङ्मय अवतरित होता है, वह है विदग्ध-वाङ्मय। ज्ञानदेव के कथनानुसार जैसे पानी आँख की पुतली को भी कष्ट नहीं देता और चट्टान को भी चीर डालता है, वैसा ही यथार्थ और मृदु, मित और रसाल है विदग्ध वाङ्मय का विशुद्ध स्वरूप !

जमाने की कसौटी

आज काव्य, नाटक, उपन्यास, लघुकथा इत्यादि प्रकारों का समावेश विदग्ध-वाङ्मय में किया जाता है। लेकिन अमुक-अमुक विभाग में आ जाने मात्र से वाङ्मय विदग्ध नहीं हो जाता। लेखन-शैली के ये प्रकार विदग्ध सूचन-पद्धति के लिए अनुकूल हो सकते हैं, इसलिए यह सही है कि विदग्ध-वाङ्मय में इनका समावेश हो सकता है। परन्तु काव्य, नाटक आदि साहित्य, स्वरूप-मात्र के कारण विदग्ध होता ही, ऐसा नहीं है। काव्य, नाटक, कथा आदि का कितना ही साहित्य आज ऐसा बताया जा सकता है कि अगर करना ही पड़े, तो उसका शुमार दग्ध-वाङ्मय में ही करना होगा। दग्ध कौन और विदग्ध कौन, इसकी कसौटी और कोई न करे, तो भी जमाना तो करता ही रहता है। मिसाल के तौर पर रामायण और

महाभारत दोनों उत्तम उदाहरण हैं विदग्ध-वाङ्मय के—जमाने की कसौटी पर कसे हुए। इनके खिलाफ बहुत सारे पुराण यद्यपि कथा-शैली से भरे हुए हैं, आज दग्ध हो चुके हैं। इस बात से लाभ उठाकर कि काव्य, कथा आदि साहित्य लोगों को रोचक हो सकता है, जो ढेर-सा साहित्य अनेक भाषाओं में लिखा जा रहा है, सारा दग्ध-वाङ्मय है; आज नहीं तो कल जल जानेवाला है। जल जाने के पहले अनेक लोगों के हृदय भी वह जलाये डाल रहा है, यह दुःख की बात है।

सत्यं प्रियहितं च यत्

कहानियाँ छोटे बच्चों को भी अच्छी लगती हैं। इसकी वजह क्या है? माँ की वाणी छोटे बच्चों को अच्छी लगती है, इसकी भी वजह क्या है? जो वजह इसकी है, वही उसकी है। प्रेम से सुझाना, यही दोनों की वजह है—जैसे गीता ने कहा है: **'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।'** लेकिन माँ तो प्रत्यक्ष बोध भी कर सकती है और वह भी बच्चे को रुचता है। औरों का प्रत्यक्ष बोध नहीं रुचता, बल्कि सूचन भी हमेशा रुचता ही है, ऐसा नहीं है। व्याजोक्ति, व्यंग्योक्ति, वक्रोक्ति आदि सूचन सीधे आक्रमण से भी अधिक अप्रिय होते हैं। सारांश, सूचन विदग्ध ही होगा, ऐसा नहीं, और प्रत्यक्ष-बोध भी अगर प्रेमाधिकार-सम्पन्न हो, तो विदग्ध हो सकता है। इसलिए गीता के समान प्रत्यक्ष उपदेश भी विदग्ध-वाङ्मय है। इतना ही नहीं, विदग्ध-वाङ्मय के आदर्श साबित हो सकते हैं। प्रेम से रिझाकर हितोपदेश करने के जितने प्रकार हैं, फिर वे प्रत्यक्ष उपदेश के हों, चाहे परोक्ष सूचन के, चित्रमय हों अथवा कथा-रूप, विदग्ध-वाङ्मय हैं।

तीन उत्तम उदाहरण

आदर्श विदग्ध-वाङ्मय का एक बाह्य लक्षण ज्ञानदेव ने **'आंगें साने परिणामें थोर'** बताया है। 'रूप में छोटा, फल में महान्।' ऊपर उद्धृत किये वचन में 'मित' शब्द आया है। हमारी माँ ने बचपन में हमें एक

सूत्र बता रखा था, 'मित में मिठास'। मुझसे एक भाई ने पूछा, "तुम्हारी रुचि की तीन सर्वोत्तम पुस्तकें कौन-सी हैं?" मैंने कहा, भगवद्-गीता, ईसप की कहानियाँ और यूक्लिड की भूमिति। सुननेवाले के लिए यह उत्तर बिल्कुल अनपेक्षित था। लेकिन मैं इन तीनों को विदग्ध वाङ्मय के उत्तम उदाहरण समझता हूँ। गीता का बचाव मैंने ऊपर किया ही है। ईसप की कहानियों के बचाव की जरूरत नहीं है। यूक्लिड का रेखागणित विदग्ध-वाङ्मय कैसे है, यह बताने की जरूरत है। यूक्लिड साक्षात् उपदेश नहीं करता। थोड़े में प्रमेय समझाकर अलग हो जाता है। यह सब विदग्ध लक्षण है।*

काामा (भरतपुर)
जून, '४९

* 'विदृत' नामक मराठी पुस्तक के लिए लिखी गयी प्रस्तावना से

वास्तव में किसी भी मानव के लिए, सिवा ईश्वर के लिए बेचैनी के, और कोई बेचैनी किसी भी समय रही ही नहीं है। सब जीवों की एक ही उत्कटता है, एक ही ईप्सा है और एक ही अन्तिम गति है। बस, इतना ही है कि ईश्वर के नाम से सब लोग ईश्वर को नहीं चाहते। कोई उसे सन्तति नाम देते हैं, कोई सम्पत्ति नाम देते हैं, कोई सत्कीर्ति कहते हैं, कोई सत्ता कहते हैं, कोई ईश्वर भी कहते हैं। नाम चाहे जो हो, उत्कटता के स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता। लेकिन, तृप्ति में अपार फर्क पड़ जाता है।

जाने-अनजाने सभी ईश्वर की ओर जा रहे हैं। समझ-बूझकर उस दिशा की ओर जानेवाले ज्ञानी माने गये; बिना समझे जानेवाले अज्ञानी समझे गये। जिन्होंने सीधी राह ली, वे साधु माने गये, जिन्होंने टेढ़ी राह ली, वे दुर्जन माने गये। उनकी उत्कटता में तृप्ति के फल लगते हैं, इनकी पिपासा में वेदनाओं के काँटे लगते हैं। और मुझे लगता है, अधिक तपस्वी ये ही हैं, जो पहले भी ताप सहें और अन्त में भी। इनकी तपस्या की बराबरी वे कैसे कर सकते हैं, जिन्होंने प्रारम्भ में भले ही अगणित यातनाएँ सहीं, किन्तु अन्त में तो मेवा ही चखा !

काव्य की शक्ति—उत्कटता

उत्कटता काव्य की शक्ति है। उत्कटता के अनेक प्रकार होते हैं, इसलिए काव्य के भी अनेक प्रकार हुए। परन्तु उत्कटता का स्वरूप सर्वत्र एक ही होता है। इसलिए उत्कटतापूर्ण काव्य का रसास्वादन, चाहे वह काव्य किसी प्रकार का क्यों न हो, रसिक अवश्य कर सकता है, फिर उसकी काव्य-रुचि किसी भी प्रकार की क्यों न हो। कवि की इच्छा जो

रहे, रसिक अपनी रुचि का अर्थ उस काव्य में से निकाल लेता है। भक्ति-रस के काव्य में से शृंगारिकों को शृंगार मिल सकता है और शृंगार-रस के काव्य में से भक्त भगवान् की भक्ति पा सकता है। वीर-काव्य में विरक्त को वैराग्य मिल जाता है और वैराग्यपरक काव्य में क्षात्र-वृत्ति वीर रस खोज लेती है। इसलिए काव्य का स्वरूप लेखक की मर्जी पर नहीं, रसिक की मर्जी पर ही निर्भर रहता है।

अभाव में से भाव कैसे ?

परन्तु लिखनेवाले के हाथ में एक बात रहती है। नीरस कविताएं लिखकर वह पाठकों को 'वि-रस' जरूर कर सकता है। यह नहीं सध सकता कि कवि तो नीरस लिखता रहे और पाठक उसे सरस माने। उसके शृंगारिक वर्णन को वह भक्तिमय समझ सकता है, लेकिन उसके नीरस वर्णन को वह सरस नहीं मान सकता। इसलिए काव्य का मर्म [illegible] ने रस को काव्य की आत्मा माना है। उनका यह कथन सही है।

हमारी एक पुरानी मान्यता है कि कविता यदि ईश्वर के बारे में लिखी गयी हो, तो वह अच्छी ही होगी। परन्तु यह मान्यता सही नहीं है। 'सन्त-युग' माने गये मध्य-युग में ईश्वर पर अनेक लोगों ने कविताएं लिखी हैं, परन्तु हम देखते हैं कि तुकाराम या तुलसीदास जैसों की कविता जिस तरह हृदय को छूती है, दूसरे बहुतों की नहीं छूती। इसका कारण, सिवा इसके और क्या कहा जा सकता है कि एक में वह रस है और दूसरी में नहीं है!

ईश्वर-[illegible]

लेकिन आखिर रस किसे कहते हैं? शब्दों की और अर्थ की ठीक-ठीक रचना या सजावट को तो रस कह ही नहीं सकते। वह चीज तो बनावटी रंगीन केले के समान होगी। सच्चे-केले का स्वाद उसमें नहीं आवेगा। रस यानी लगन की सचाई। इसलिए मैं कहा करता हूं कि सच्ची लगन चाहिए, फिर वह [illegible] की ही क्यों न हो, मुझे मान्य होगी। लेकिन ईश्वर के नाम की भी खोटी लगन नहीं चलेगी।

पारस लोहे का सोना कर सकता है, पीतल का नहीं। तुम्हारी हीन लगन का रूपान्तर मैं उच्च लगन में कर सकता हूँ, लेकिन तुम्हारे खोटे का खरा करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है। तुकाराम जब कहता है कि 'न ये नेत्रीं जळ। नाहीं अन्तरी तळमळ। तो हे चावटी चे बोल'—अर्थात् अगर नैनन में नीर नहीं, अन्तर में लगन नहीं, तो ये सारे बोल व्यर्थ हैं।' तब वह भी यही कहना चाहता है। सत्य ही जीवन-सार है और वही साहित्य रस है।

पापी भी निष्ठावान् हो

लोग पूछते हैं, "क्या यह जरूरी है कि कवि का जीवन पुण्यमय ही हो?" कोई आग्रहपूर्वक जवाब देते हैं—"अवश्य।" दूसरे कहते हैं—"वैसी खास जरूरत नहीं है।" मेरी निगाह में कवि का जीवन पुण्यमय जरूर होना चाहिए, लेकिन मैं दूसरे पक्ष का भी समर्थन करने के लिए तैयार हूँ। मेरा कहना है, कवि पापी ही क्यों न हो, पर वह सच्चा पापी होना चाहिए। अच्छा मनःपूर्वक पाप करनेवाला चाहिए। बीच-बीच में पुण्य का आवरण लेनेवाला, पाप का स्वांग करनेवाला नहीं चलेगा। निष्ठावान् पापी चाहिए। उस हालत में वह चाहे नरक में जाय, लेकिन उसके काव्य से मैं मोक्ष पा सकता हूँ।

काव्य सत्य का प्रयोग है। जिसके जीवन में जितना सत्य उतरा होगा, उतना ही काव्य उसमें प्रकट होगा। फिर वह उस काव्य को शब्दों में प्रकट करे या न करे।*

परंधाम (पवनार)
१७-८-'४९

---

* 'जीवन गंगा' नामक श्री कोलते के मराठी काव्य-संग्रह की प्रस्तावना से।

साहित्यिकों का अपना एक कार्य है। परन्तु जैसे बढ़ई, बुनकर आदि का एक पेशा होता है और एक जाति होती है, वैसे साहित्यिकों की न कोई जाति होती है, न पेशा। बल्कि यह सारी [illegible] जितनी विविध है, उतनी ही साहित्य की रचना विविध होती है। इसीलिए साहित्यिकों की अपनी स्वतन्त्र महिमा होती है। हम उनका समावेश '[illegible]' में कर लेते हैं।

कृति में 'राम' हो

एक कहानी है कि 'शत-कोटि रामायण' तीन हिस्सों में बँट गयी आखिर में एक श्लोक रह गया, जो ३२ अक्षरों का था। उसमें से भी १०-१० अक्षर बँट गये और २ अक्षर बचे। उसका तीन में समान विभाजन नहीं हो सकता था, इसलिए समान विभाजन करनेवाले भगवान शंकर ने कहा कि हम विभाजन करनेवाले हैं, इसलिए उसकी मजदूरी के तौर पर दो अक्षर लेंगे। उन्होंने दो अक्षर लिये, 'रा' 'म'। उन दो अक्षरों में रामायण आ जाती है। यही साहित्यिकों की कृति का सार है। सीताजी ने हनुमान् को मोती की माला इनाम दी थी। हनुमान् ने एक-एक मोती चबाना शुरू किया और चबाकर देखा कि उसमें कुछ रस नहीं है, तो फेंक दिया। जब सीताजी ने पूछा कि तूने यह क्या किया! तो हनुमान् ने कहा कि मैंने एक-एक मोती चबाकर देखा कि उसमें राम है या नहीं और जब नहीं देखे, तो फेंक दिया। वह हर चीज में राम को देखता था। उसी तरह साहित्यिकों की हर कृति में राम है या नहीं, यह देखना होता है। अगर राम नहीं है, तो वह कृति दुनिया में नहीं टिकेगी, दुनिया पर स्थायी असर नहीं डालेगी। वह लुप्त हो जायगी। इसलिए किसी साहित्यिक की कृति का नाप-तोल दुनिया के सामने उसके आकार

नहीं किया जायगा। किसने कितना लिखा, इस पर से उसकी कीमत नहीं मानी जायगी, बल्कि उसने जीवन को कितना रस दिया, उस पर से उसकी कीमत मालूम होगी।

हम समझते हैं कि जिस जमाने में हम हैं, उस जमाने का जीवन-रस त्याग में ही प्रकट हो सकता है। जिस साहित्यिक ने वह त्याग-रस जितना चखा हो, उसके जीवन में वह जितना उतरा हो, उतना उसका असर दुनिया पर होगा।

नवीन-नवीन रस ही नव-रस

कवियों ने नव-रसों की गिनती की है, परन्तु हमें लगता है, जो नवीन-नवीन रस होते हैं, वे नव-रस हैं और उनकी कोई गिनती नहीं हो सकती। लेकिन उन्होंने एक वर्गीकरण किया। उन्होंने कारुण्य को एक रस माना। दुनिया में कहीं भी पाप देखकर सन्त पुरुष के हृदय में जो भाव पैदा होते हैं, वह करुणा का एक प्रकार है। दुःखियों को देखकर हृदय में जो करुणा पैदा होती है, वह करुणा का दूसरा प्रकार है। अज्ञानी का अज्ञान देखकर ज्ञानी के मन में जो करुणा पैदा होती है, वह करुणा का तीसरा प्रकार है। चाहे वह करुणा के रूप में पहचानी जाती हो, पर वह अलग-अलग वस्तु है। ज्ञानी के मन में अज्ञान-निवृत्ति की जो प्रेरणा पैदा होती है, वह दूसरे ही प्रकार की करुणा है। वैसे ही शृंगार की बात लीजिये। शृंगार का अर्थ है—जहाँ प्रेम प्रकट होता है और हृदय की उदारता का परिचय होता है। जहाँ मनुष्य अपनी टूटी-फूटी बातों से दुनिया को सजाता है, दुनिया की शोभा बढ़ाता है, वहाँ भी शृंगार है। एक बगीचा बनाने-वाला माली पौधों को पानी देता है, उनकी सेवा करता है, शोभा बढ़ाता है, तो वह भी शृंगार है। एक भक्त मूर्ति को सजाता है, तो वह भी शृंगार है। एक माता भूखे बच्चे को परोसती है, थाली सजाकर अतिथि के सामने रखती है, तो वह भी शृंगार है। चित्रकार सुन्दर चित्र खींचता है, तो वह भी शृंगार है। किसी व्यथित हृदय को समाधान देने के लिए

कोई सुन्दर सितार बजाता है, तो वह भी शृंगार है। इस तरह शृंगार के अनेक प्रकार हैं। इसी तरह अन्य रसों के बारे में समझना चाहिए।

आनन्दानुभूति

यद्यपि नवरस माने गये हैं, फिर भी उनके अनेक प्रकार हैं। हमारे लिए वही प्रकार आदरणीय होगा, जिससे दुनिया के साथ एकरूप हो सकते हैं। अगर हम सम्पूर्ण आनन्द का पृथक्करण करें, तो मालूम होगा कि जिस अंश में हम अपने को भूल जाते है, सारी दुनिया में लीन हो जाते हैं, उतने अंश में आनन्द प्राप्त होता है। बच्चे को खेल में आनन्द महसूस होता है, क्योंकि वह खेल में अपने को भूल जाता है। माँ बच्चे की सेवा में अपने को भूल जाती है, समाज-सेवक समाज-सेवा में अपने को भूल जाता है; इसलिए उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। कवि को सृष्टि के दर्शन में आनन्द महसूस होता है, क्योंकि वह अपने को भूल जाता है। उसी तरह जहाँ हम अपने को भूल जाते हैं और समष्टि में लीन हो जाते हैं, वहाँ आनन्द हासिल होता है। वह समष्टि जितनी संकुचित होगी, उतना आनन्द भी संकुचित होगा। माता को बच्चे की सेवा करने में आनन्द महसूस होता है, परन्तु जिसमें वह लीन होती है, वह चीज छोटी सी है; इसलिए उसका आनन्द भी छोटा होता है। वह चीज जितनी व्यापक होती है, उतना ही आनन्द भी व्यापक बन जाता है। साहित्यिक ने कोई रस निर्माण किया और उसके परिणामस्वरूप वह साहित्यिक और उसके श्रोता जितने अंश में इस चोले के बाहर चले गये, भूल गये, उतने अंश में आनन्द हासिल होता है।

व्यसन और आनन्द

हम जब जेल में थे, तब कुछ कैदियों को काम के लिए बाहर ले जाया जाता था। यद्यपि वे काम के लिए ही जाते थे और कैदी के नाते जाते थे, फिर दीवाल के बाहर जाते थे, इसलिए उन्हें आनन्द महसूस होता था। वैसे ही यह देह एक दीवाल है। किसी भी तरह हम उस दीवाल के बाहर जायँ, तो हमें आनन्द प्राप्त होता है। देहभान से हम

जितने अलग हो सकते हैं, किसी भी उपाय से क्यों न हो, उतना आनन्द आता है। एक शराबी शराब पीता है, तो उसे आनन्द आता है। एक आत्मज्ञानी पुरुष ने देह को भूलने के लिए जैसे एक युक्ति निकाली है, वैसे ही उस शराबी की भी एक युक्ति है। इस तरह व्यसनी लोग भी महापुरुषों की कोटि में आ जाते हैं, क्योंकि वे भी व्यसनी हैं और ये भी व्यसनी हैं। व्यसनी का अर्थ है, जो अपने को भूल जाते हैं और चित्त को किसी चीज में लीन करते हैं। बिना व्यसन के आनंद नहीं आता।

नित्य नये घर का आनन्द

लोग पूछते हैं कि बाबा, इस तरह कब तक घूमा करोगे! लेकिन बाबा को पैदल चलने का व्यसन हो गया है और यह उसे आनन्द देता है। बाबा को रोज नया घर मिलता है और नये चेहरे दीखते हैं। बड़े सेठों के दस-पाँच मकान होते हैं बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली आदि में। उसे वैभवशाली माना जाता है। लेकिन बाबा को तो साल के ३६५ मकान मिलते हैं। बाबा को इतना आनन्द इसलिए आता है कि बाबा अपने को भूल गया है और [illegible] कार्य में लीन हो गया है। इसलिए उसे कोई थकान नहीं आती।

हजारों की हवा का उपभोग

कोई कहते हैं कि बाबा तपस्या कर रहा है, लेकिन उनका यह खयाल गलत है। तपस्या तो वे करते हैं, जिनके चेहरे पर आनन्द नहीं दीखता। जो लोग गधे का बोझ ढोते हैं, रात-दिन मेहनत करते हैं, वे स्वार्थ साधने की कोशिश करते हैं। लेकिन सधता नहीं। वे स्वार्थी कहलाते हैं, लेकिन अनर्थी होते हैं। उन्हें कोई आनन्द हासिल नहीं होता। बाबा को त्यागी कहते हैं, लेकिन बाबा बड़ा भोगी है। उसका स्टैण्डर्ड ऑफ लिव्हिंग (जीवनमान) कितना ऊँचा है! बम्बई में एक कोठड़ी में एक खिड़की के बदले दो हो, तो पचीस के बदले पचास रुपया किराया देना पड़ता है याने हवा के लिए किराया बढ़ता है। अब बाबा को तो हजारों रुपये की

हवा मिलती है, उसका हवा का स्टैण्डर्ड बहुत बढ़ गया है। सुन्दर हवा, सुन्दर सूर्यकिरण हासिल होते हैं और इसे लोग तपस्या कहते हैं ! जब से बाबा ने भू-दान शुरू किया है, तब से उसकी आयु बढ़ी है। खुली हवा में जितना वैभव और सारी सृष्टि का प्रेम हासिल होता है, उतना और कहीं हासिल नहीं होता। इसलिए किसान के जीवन से बढ़कर और कोई जीवन ही नहीं है, क्योंकि उसे सारी सृष्टि का पूरा लाभ मिलता है।

शहरवाले घाटे में रहते हैं

मेरी समझ में नहीं आता कि लोग शहरों में क्यों रहते हैं और उन्हें वहाँ पर क्या सुख हासिल होता है ! शहरवाले एक आभास को ही सुख कहते हैं, परन्तु कुल मिलाकर दुःख ज्यादा भोगते हैं और सुख कम; यानी वे घाटे में ही रहते हैं। चाहे कोई कवि हो या साहित्यिक, कारीगर हो या परिवार का कार्य करनेवाला सांसारिक मनुष्य, सबके लिए आनन्द का साधन परमेश्वर ने परिपूर्ण निर्माण किया है। परन्तु हम यह समझते नहीं। अगर समझ सकते, तो दुःख न होता। जीवन में रस मालूम होता।

काव्यं रसात्मकम्

जिसके जीवन में रस है, वह साहित्यिक है : 'काव्यं रसात्मकम्।' जिसमें रस है, वह काव्य है। जीवन में रस न हो, तो वह वाणी में कैसे प्रकट होगा ? जो ऐसी अधूरी साधना करते हैं, यानी रसहीन जीवन में रसमय काव्य प्रकट करने की अपेक्षा करते हैं, वे कैसे सफल होंगे ? इसलिए जीवन रसमय, संगीतमय होना चाहिए। कोई वजह नहीं कि वाल्मीकि जैसा कवि आज क्यों न पैदा हो ! कुछ लोग कहते हैं कि विज्ञान के कारण काव्य घटा है, क्योंकि विज्ञान में समनिरसन होता है और साहित्य के लिए कुछ भ्रम की आवश्यकता होती है। यह खयाल गलत है कि विज्ञान जितना बढ़ेगा, उतना रस घटेगा; बल्कि वह तो बढ़ना चाहिए। वाल्मीकि को सृष्टि में जितना रसानुभव होता था, उनसे हमें कम नहीं, बल्कि अधिक ही रसानुभव होता है। क्योंकि जिधर देखो,

इधर विज्ञान के कारण नयी शक्तियाँ प्रकट हो रही हैं। उससे दुनिया में गूढ़ता बढ़ी और ज्ञान भी बढ़ा है।

काव्य-प्रेरणा का काल

प्राचीनों के लिए दुनिया जितनी प्रकट थी, उससे ज्यादा अप्रकट हमारे लिए है। जो अज्ञानी होते हैं, उनके सामने दुनिया कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट होती है। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता है, वैसे-वैसे, उसके साथ-साथ अज्ञान की मात्रा भी बढ़ती और गूढ़ता भी बढ़ती है। ज्ञान के समान अज्ञान भी एक वैभव है। निद्रा एक किस्म का अज्ञान है। अज्ञानी से पूछा जाय कि तुझे क्या-क्या ज्ञान और अज्ञान है, तो वह कहेगा कि चन्द बातों का ज्ञान और चन्द बातों का अज्ञान है। लेकिन ज्ञानी से पूछा जाय, तो मालूम होगा कि उसका ज्ञान और अज्ञान, दोनों ज्यादा है। ज्ञानी का सिर्फ ज्ञान ही नहीं, बल्कि अज्ञान भी बढ़ा हुआ होता है। दुनिया की गुप्त और गूढ़ चीजों का खयाल या अज्ञान जितना वाल्मीकि को था, उससे ज्यादा हमें है। गूढ़ता का खयाल जितना बढ़ता है, उतना काव्य बढ़ता है। इसलिए इस जमाने में काव्य घटेगा, यह खयाल गलत है। आज दुनिया ज्यादा प्रकट और ज्यादा अप्रकट है। काव्य के लिए केवल प्रकटता की ही नहीं, बल्कि अप्रकटता की भी जरूरत होती है। केवल अंधकार नहीं, केवल प्रकाश नहीं, ऐसा बीच का काल काव्य के लिए हमेशा अनुकूल होता है। संधिकाल और उषःकाल में काव्य सूझता है। इसलिए हमारे पूर्वजों ने कहा है कि संधिकाल और उषःकाल में ध्यान करो, उससे स्फूर्ति मिलेगी। हमने अपने जीवन में जो उत्तम-से-उत्तम साहित्य लिखा है, उसकी कल्पना उषःकाल में ही सूझी है।

इसलिए कवि वह है, जो बड़े सवेरे उठेगा और बड़े सवेरे वह उठ सकेगा, जो जल्दी सो जायगा—इसलिए मैं व्याख्यान समाप्त करता हूँ।

हैदराबाद
६-२-'५६

संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य 'विश्वगुणादर्शचम्पू' में भारत की विभिन्न जातियों के गुण-दोषों का वर्णन है। उसमें महाराष्ट्र के बारे में कहा गया है, "इस प्रदेश के लोग कविता का एक चरण भी लिखते हैं, तो व्यास बन जाते हैं; और पूरा श्लोक लिखने पर तो साक्षात् बृहस्पति ही !" इस प्रकार आज यहाँ इतने सारे बृहस्पति आ जुटे हैं !

'महा' महाराष्ट्र की पूँछ नहीं

भारत में अनेक प्रान्त हैं। हर प्रान्त अपने-अपने नाम के पीछे पूँछ लगाने लगा है। कोई 'विशाल' लगाता है, तो कोई 'महा'। पर 'महाराष्ट्र' नाम के पीछे कोई पूँछ नहीं है। उसमें का 'महा' शब्द तो उसके नाम का एक अंश ही है। अगर कल 'विशाल आन्ध्र' कहें, तो वह उसकी पूँछ बन जायगी। 'महागुजरात' कहें, तो वह भी पूँछ साबित होगी। इसीलिए महाराष्ट्रवालों ने तय किया कि अपना नाम बिना पूँछ का ही ठीक है। महाराष्ट्रवालों को यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि 'महा' शब्द उस नाम का एक अंश है। इसी तरह संस्कृत में विभिन्न प्रान्तों के लिए 'अंगेषु, वंगेषु, गुर्जरेषु' आदि भिन्न भिन्न नाम पाये जाते हैं। अगर इन्हें 'अंगे, वंगे, गुर्जरे' कहा जाय, तो वह गलत होगा। यानी उन प्रान्तों का बहुवचन चलता है; लेकिन 'महाराष्ट्र' का बहुवचन नहीं होता। उसका हमेशा 'महाराष्ट्रे' यह एकवचन ही होता है। 'महाराष्ट्रेषु' कहना गलत होगा। इसलिए सदा 'महाराष्ट्रे' ऐसा एकवचनान्त प्रयोग ही करना चाहिए।

इन दोनों बातों पर ध्यान दीजिये। 'महाराष्ट्र शब्द बहुवचन में प्रयुक्त नहीं हो सकता' इसका मतलब यही है कि महाराष्ट्र में विश्व-कल्याण के

सम्बन्ध में सभी एकमत हैं : इस बारे में अनेक मत इस मुल्क में नहीं होंगे। दूसरी बात यह कि अन्य किसी भी राष्ट्र के साथ न जोड़ा जाने-वाला 'महा' शब्द इससे जोड़ा गया है। इसका अर्थ यही है कि महाराष्ट्र एक राष्ट्र नहीं, बल्कि अनेक राष्ट्रों के समूह जैसी वृत्तिवाला है, जिसे अंग्रेजी में 'इण्टरनेशनल' (अन्तर्राष्ट्रीय) कहते हैं। 'महाराष्ट्र' से ऐसी उदारवृत्ति की अपेक्षा की जाती है, भले ही आज उसमें वह हो या न हो।

ध्यान रहे कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के उत्तरदायित्व महाराष्ट्रीयों पर हैं। अगर हमारा अभिमान 'भारतीयता' की अपेक्षा संकुचित रहा, तो हम महाराष्ट्रीय क्या, राष्ट्रीय भी नहीं; बल्कि 'अल्पराष्ट्रीय' ही साबित होंगे। 'मैं भारतीय हूँ' कहने में जितना व्यापक अभिमान होता है, उससे भी अधिक व्यापक भावना 'मैं महाराष्ट्रीय हूँ' यह कहने में होनी चाहिए। सारे राष्ट्र को व्याप्त करने की वृत्ति और उतनी ही बुद्धि तथा हृदय की व्यापकता भी होनी चाहिए। हमारे विचारों का दायरा कभी भी छोटा या संकुचित न होना चाहिए।

यह बात हमारे साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ती है। हम सबके आदिगुरु, [illegible] ज्ञानदेव का 'ज्ञानेश्वरी' एक अजर-अमर ग्रन्थ है। इस भूमण्डल पर जब तक 'मराठी' भारती बनी रहेगी, तब तक यह ग्रन्थ कायम रहेगा, भले ही दूसरे कितने ही ग्रन्थ प्रकट हों या नष्ट हो जायँ। ज्ञानेश्वरी में अत्यन्त व्यापक दृष्टि सिखलायी गयी है। कवि लिखता तो है मराठी में, पर कहता है कि मेरे इस ग्रन्थ से भगवान् प्रसन्न हों :

'आतां विश्वात्मकें देवें।
येणें वाग्यज्ञें तोषावें॥'

—जो विश्वरूप भगवान् है, वह मेरे इस वाग्-यज्ञ से सन्तुष्ट हो। कवि ने यह कभी नहीं कहा कि 'पूना जिला या पंढरपुर से आळंदी*

* 'पंढरपुर' ज्ञानदेव का साधना-स्थल और 'आळंदी' (पूना के निकट) [illegible] है।

तक का प्रदेश प्रसन्न हो'; बल्कि यही कहा कि हम 'विश्वपति' की प्रार्थना करते हैं।

विश्व ही मेरा घर

लोकमान्य तिलक ने भी अपने 'गीतारहस्य' के समर्पण में ऐसा ही लिखा है : 'श्रीशाय जनतात्मने।' अर्थात् जनतात्मा परमेश्वर या जनता-जनार्दन को मैं यह ग्रन्थ समर्पित कर रहा हूँ। अवश्य ही यह एक उज्ज्वल और विशाल कल्पना है, पर ज्ञानदेव इससे भी आगे, इससे भी विशाल कल्पना करते हैं। 'आतां विश्वात्मकें देवें' से अधिक व्यापक शब्द नहीं हो सकता। हमारे समय का जो महापुरुष होगा, वह सारे विश्व में विहार करते समय मन में यही भावना रखेगा कि यह सारा विश्व ही मेरा घर है :

'हे विश्वचि माझे घर। ऐसी मति ज्याची स्थिर॥' अर्थात् मेरा घर कोई खास प्रान्त नहीं, कोई खास देश नहीं, वरन् सारा विश्व मेरा घर है। जो 'विश्व' से नीचे की भाषा बोलने के लिए प्रस्तुत हो, वह सच्चा महाराष्ट्रीय ही नहीं। अगर 'लक्ष्मी बेचारी बैर धोने' वाली कहावत चरितार्थ करनी हो, तो बात अलग है।

तुकाराम ज्ञानदेव का शिष्य था। उससे किसीने पूछा : 'आपका स्वदेश कौन-सा है?' उसने उत्तर दिया : 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रयांमध्यें वास॥' अर्थात् हमारा स्वदेश तीनों लोक है। उसने यह कभी नहीं कहा कि 'मेरा स्वदेश पंढरपुर या देहू* है'। ज्ञानदेव की तरह तुकाराम भारतभर घूमा नहीं, देहू में ही रहता था, किन्तु वह 'मेरा स्वदेश पूना जिले में या महाराष्ट्र में है' यह न कहकर 'भुवनत्रयांमध्यें वास' यही कहता है। इसे ही हम महाराष्ट्रीय भूमिका मानते हैं। ज्ञानदेव की यह शिक्षा और तुकाराम की यह वाणी ही महाराष्ट्रीय वृत्ति है।

महाराष्ट्र में जो सन्त हो गये, आज उनका [illegible] समाज बन गया है। उसमें सारे सन्तों की गठरी बँध जाती और समन्वय हो जाता है

* पंढरपुर तुकाराम का भी साधना-स्थल और 'देहू' निवास और समाधि-स्थान है।

आज उन सबका एक छोटा-सा समास बन गया और वह है 'ज्ञानबा-तुकाराम'। महाराष्ट्र के इन्हीं आचार्यों, ज्ञानदेव और तुकाराम ने हमें महान् उदारवृत्ति सिखलायी और वही सच्ची महाराष्ट्रीय वृत्ति है। अतः पहली बात यह कि हमारी वृत्ति राष्ट्रीयता से ऊपर की होनी चाहिए, उससे नीचे की नहीं।

एक बार 'आजाद हिन्द फौज' के लोग पवनार में मुझसे मिलने आये। विदा होते समय उन्होंने 'जय हिन्द' का जयघोष किया। प्रत्युत्तर में मैंने कहा : 'जय हिन्द, जय दुनिया, जय हरि !' 'जय हिन्द' शब्द में भी खतरा हो सकता है, इसलिए 'जय दुनिया' कहा और दुनिया भी बुरे रास्ते जा सकती है, इसलिए 'जय हरि' शब्द जोड़ा। स्पष्ट है कि 'हरि' बुरे रास्ते कभी जा ही नहीं सकता। सारांश, महाराष्ट्र के साहित्य में ऐसी ही वृत्ति है कि वे ऐसा शब्द बोलते हैं, जो सारी दुनिया पर लागू होता है। ज्ञानदेव ने सिखाया :

'एका बोलिले हाय, सर्वांहिं हित।'

--एक को बताया, पर लाभ सभीको हुआ। महाराष्ट्र कभी 'असर्व' की भूमिका ले नहीं सकता, वह सदा 'सर्वोदय' की ही भूमिका ले सकता है। 'सर्व' से नीचे की भूमिका लेना महाराष्ट्रीय बाना नहीं, यह आप भलीभाँति अन्तर में अंकित कर लीजिये।

और दूसरी बात यह कि हमारे प्रान्त का बहुवचन (अनेक मत) नहीं हुआ करता। महाराष्ट्र में ये दोनों गुण होने चाहिए। पर आज उस पर इसके विपरीत दो आक्षेप किये जाते हैं। पहला यह कि महाराष्ट्रीय लोग संकुचित प्रान्ताभिमान रखते हैं और दूसरा, ५० लोगों के ५१ मत होते हैं, जब कि हमारा बाना इससे बिलकुल विरुद्ध है। अधिक क्या, आप अपने सच्चे बाने के प्रति सजग हो जाइये, इतना ही हमारा कहना है।

संस्कृतियों का मेल

आप 'मराठवाड़ा' के लोग हैदराबाद में रहते हैं। आपके जीवन का एक 'मिशन' है। आपका जीवन एक यज्ञ-कार्य है। विभिन्न प्रान्त अलग

किये जायँ, तो वहाँ का जन-व्यवहार जन-भाषा में चले—यह एक सीधी-सी बात है, इसमें कुछ भी संकुचितता नहीं। फिर भी हम चाहते हैं कि ये प्रान्त इन्द्रधनुष के रंग जैसे बनें। भूगोल के नक्शे की तरह रेखा खींचकर नया रंग और नया प्रान्त—एक पीला तो दूसरा लाल—बनाना हमें पसन्द नहीं। इन्द्रधनुष में पहला रंग कहाँ खतम हुआ और दूसरा कहाँ से शुरू हुआ, इसका पता नहीं चलता। अगर भूगोल के नक्शे की तरह प्रान्त-रचना की गयी, तो उन-उन भाषाओं के लोग त्रस्त करके निकाल दिये जायँगे और एक-एक प्रान्त में ठूँसे जायँगे। इसलिए प्रत्येक भाषा के बहुत-से लोग एक प्रान्त में आ जायँ, तो भी काफी है, बाकी एक-दूसरे प्रान्तों में परस्पर बँट जायँ। ऐसा होने पर परस्पर संस्कृतियों का मेल और संस्कारों का सुन्दर संगम हो जायगा।

महाराष्ट्र की विशेषता

हम अक्सर कहा करते हैं कि महाराष्ट्रीयों के बाने की विशेषता हमारे भक्ति-साहित्य में दीख पड़ती है। कोई पूछते हैं कि 'महाराष्ट्र की विशेषता क्या है?' तो कहा जाता है कि 'मराठी लोग क्रोधी, उग्र, किंचित् कठोर, अड़ियल, एकाकी और झक्की होते हैं' आदि-आदि। पर वास्तव में महाराष्ट्र की विशेषता उसके भक्ति-मार्ग में ही है। वे परमेश्वर को 'माउली' (मैया) कहते हैं :

'ये ग ये ग विठाबाई, माझे पंढरीचे आई।'

ईश्वर को माउली या मैया कहनेवाले इन लोगों के अन्तर में निश्चय ही कोमलता होनी चाहिए। भगवान् को माँ कहनेवाले और भी अनेक लोग पाये जाते हैं, पर ज्ञानदेव ने एक जगह कमाल कर दिया :

'तेथे प्रियाची परम सीमा, तो भेटे माउली आत्मा।' उसने अपनी आत्मा को माँ की उपमा दी है। अवश्य ही ईश्वर को मातृरूप से भक्ति करनेवाले कुछ भक्त है, पर ज्ञानदेव ने तो आत्मा को भी माता कहा है। आत्मा का अर्थ है, स्वयं मैं। इस तरह अपने स्वरूप को ही उसने माता की संज्ञा दे डाली, यह सचमुच कमाल कर दिया।

मातृ-वृत्ति रखें

सारांश, आप सभी महाराष्ट्रीय जन माता जैसे हैं :

'माउलीच्या मार्गे, बालकांची ओळ ।'

माता के पीछे बच्चे रहते ही हैं। अतः दुनिया के सभी लोगों को बच्चों जैसा और स्वयं अपने-आपको माता जैसा बनाना चाहिए। उसके लिए आज जो स्थिति चल रही है, उसे आमूल बदलना होगा। उसके लिए न तो अति-आग्रह ठीक होगा और न यह संकुचितता ही कि 'सारे एक भाषा-भाषी लोग एक ही प्रान्त में रहें।' इससे हमारी ही हानि होगी। अगर हमारे लोग दूसरे प्रान्त में रहेंगे, तो प्रचार के लिए उनकी जरूरत है ही। आप लोग यह समझें कि प्रचार-कार्य का भी मूल्य है, इसलिए मन को दुःखी न करें। 'अरे, बेचारा बेलगाँव कर्नाटक में चला गया!' ऐसा न कहें, बल्कि यही सोचें कि यह आपत्ति नहीं, संपत्ति है।

अगर आप महाराष्ट्रीय होंगे, तो यह बात आपके ध्यान में आ जायगी। ऐसा संस्कारयुक्त शहर कर्नाटक में रहेगा, तो वहाँ मराठी शाला, कॉलेज भी रहेंगे। मराठी और कानड़ी भाषाओं की खूबियों और मिठास का आदान-प्रदान होगा तथा परस्पर मेल रहेगा। यदि आप ऐसी व्यापक दृष्टि रखें, तो आपका बचाव होगा ही, भारत का और दुनिया का भी बचाव होगा। बम्बई, बेलगाँव, कोल्हापुर में जो काण्ड हुए, वे महाराष्ट्र के लिए कभी भी शोभास्पद नहीं। महाराष्ट्र-वृत्ति के लिए वे कलंक ही हैं, यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए। फिर भी अगर नहीं पहचानते, तो आप महाराष्ट्रीय नहीं, अत्यन्त अल्पराष्ट्रीय साबित होंगे।

सोचिये, क्या पण्डित नेहरू आज आपको भारतीय वृत्ति सिखलायें! आपको तो उनको बताना चाहिए कि हमारी वृत्ति इससे कहीं आगे की है। हमारी वही वृत्ति है, जिसे 'अन्तर्राष्ट्रीय वृत्ति' के नाम से पहचाना जाता है। इसके विपरीत वे हमें भारतीय वृत्ति का पाठ पढ़ायें और हम

मुँह लटकाकर उसे सुनें, यह शोभा नहीं देता। आखिर आज आप स्वतंत्र महाराष्ट्र प्रान्त बनाकर क्या करेंगे? इस बारे में लोगों की जो कुछ कल्पनाएँ हैं, मध्ययुगीन, संकुचित, पुराने सड़े-गले या काई लगे हुए विचार हैं, वे विज्ञान के इस युग में टिक नहीं सकते। कारण वे न तो हमारी संस्कृति में हैं, न वृत्ति में और न साहित्य में ही। शिवाजी महाराज के जमाने में आज जैसे साधन न थे। आज कुछ ही घण्टों में दिल्ली से रामेश्वर तक सरलता से जाया जा सकता है, पर उस जमाने में ऐसा नहीं था। फिर भी उनसे किसीने पूछा: 'आप यह क्या कर रहे हैं?' तो शिवाजी महाराज ने यही उत्तर दिया कि 'हमने हिन्दू-धर्म के लिए यह फकीरी अख्तियार की है और हिन्दवी राज्य के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।' हमें उनके इन वाक्यों पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए।

नाम उनका, काम आपका

आप ऐसी जगह रहते हैं, जहाँ सब प्रकार की भाषाएं हैं। इसलिए मिल-जुलकर रहिये, जैसे दूध में शक्कर। किसीसे पूछा जाय कि 'क्या पी रहे हैं?', तो वह कहता है: 'दूध पी रहा हूँ।' शक्कर का नाम कोई भी नहीं लेता, पर उसकी मिठास दूध में रहती ही है। इसलिए नाम का वृथा अभिमान मत रखिये। अपनी मिठास बनाये रखिये और उसे दूध में घुलने दीजिये। आज आप हैदराबाद के हैं, कल तेलंगाना हुआ, तो तेलंगाना के हो जायेंगे और विशाल आंध्र हुआ, तो विशाल आंध्र के बन जायेंगे। फिर भी मन में यह गाँठ बाँध लें कि हम राष्ट्रीय समूह के हैं, अल्पराष्ट्रीय नहीं। वहाँ के बनकर रहिये और मधुरता बढ़ाइये। नाम उनका और काम आपका — ऐसा होने दें।

आपका यह विशाल समुदाय भाग्य नगरी का है। हिन्दुस्तान की हर एक नगरी आपकी है, पर इसके लिए आपको विशाल दृष्टि रखनी होगी। यदि हम संकुचित हुए, तो हमारा ही नुकसान होगा। इसलिए विशाल दृष्टि रखनी चाहिए। जो व्यापक दृष्टि रखेगा, वही अखिल भारत का

नेतृत्व और नेतृत्व प्राप्त कर सकेगा। ध्यान रहे कि रवि बाबू बंगला के कवि थे, पर 'विश्वकवि' भी बन गये। उन्होंने काव्य बंगला में लिखा। एक 'गीताञ्जलि' को छोड़ दें, तो उनका सारा काव्य बंगला में है, फिर भी वे विश्वकवि बने। कारण, उनके काव्य में लेशमात्र भी संकुचितता नहीं है। उन्होंने जो संस्था स्थापित की, उसका भी नाम 'विश्वभारती' ही रखा। यह बात नहीं कि उनके काव्य की टक्कर का, उतना कला और भाव से पूर्ण काव्य और किसीने नहीं लिखा; पर सभी विश्वकवि नहीं बन सके, भारत-कवि नहीं बन पाये। इसका कारण है उनकी संकुचित वृत्ति।

महाराष्ट्रीयों में यह संकुचित वृत्ति पेशवाई के बाद से ही आयी। वह ज्ञानदेव और तुकाराम की वसीयत नहीं, पेशवाई की है। पर यह वसीयत अभिमानास्पद नहीं। वह हमें नीचा दिखानेवाली है, ऐसा तो मैं नहीं कहता, पर यह निश्चित है कि वह अभिमानास्पद कतई नहीं है।

हमें समझना चाहिए कि हम सब ज्ञानदेव के पुत्र हैं। मेरे मन में जो विचार उठे और उनकी जो पीड़ा है, वह आपके सामने रखी। मुझे विश्वास है कि हैदराबाद राज्य में आप अपनी सुगन्धि और मधुरता फैलायेंगे। नम्र और निरहंकार वृत्ति से अपनी सुगन्धि और मधुरता बढ़ने दीजिये। परमेश्वर आपको इसकी शक्ति दें।*

हैदराबाद
५-२-'५६

* मराठीभाषी साहित्यकारों के बीच मराठी में किये गये भाषण का अनुवाद।

साहित्यिकों की हमारे मन में बहुत इज्जत है। हमारे मन में जो सर्वोदय-समाज है, उसमें साहित्यिकों और कवियों का बहुत ऊँचा स्थान है। नैतिक सत्ता इन्हीं लोगों के हाथ में होगी। सर्वोदय-समाज में 'सत्ता' नहीं होगी, परन्तु नैतिक अधिकार होगा। वह ऐसे ही लोगों के हाथ में होगा, जो दूर का देख सकते हों।

लोक-जीवन पर सत्ता

संस्कृत में 'कवि' शब्द की व्याख्या 'क्रान्तदर्शी' के रूप में की गयी है, याने जो दूर का देखता है। दूर का अर्थ भविष्य ही नहीं, अन्तर में भी है। जो अन्तर में भी पैठ सके और दूर काल में भी पैठ सके, ऐसे क्रान्तदर्शी को हम 'कवि' कहते हैं। हिन्दुस्तान की सभ्यता ने साहित्यिकों और कवियों को ऊँचा स्थान दिया है। यहाँ जिनकी धार्मिक सत्ता चली, वे सब बहुत बड़े कवि थे। हजारों वर्षों से वाल्मीकि, व्यास, शुक की जितनी सत्ता चली, उतनी और किसीकी नहीं। उनकी वह सत्ता केवल धर्म तक ही सीमित नहीं रही। सम्पूर्ण जीवन पर ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक जीवन पर भी रही है। याने कुल जीवन पर उनकी सत्ता है। पश्चिम में कवि और साहित्यिक कम नहीं हुए, परन्तु लोक-जीवन पर उनकी सत्ता नहीं चली, जैसी कि भारत में चली। 'शेक्सपियर' महाकवि हो गया। लोक-जीवन पर उसका कुछ-न-कुछ असर हुआ और साहित्य पर तो हुआ ही; पर लोक-जीवन पर वाल्मीकि का जो असर हुआ, वह शेक्सपियर का नहीं हुआ। होमर ने 'ओडिसी' नामक एक बड़ा काव्य लिखा है। फिर भी ओडिसी की सत्ता लोक-जीवन पर वैसी नहीं रही, जैसी कि व्यास की, महाभारत की आज यहाँ चलती है। इसीलिए हम आप लोगों की बहुत इज्जत करते हैं।

कवियों का ऐच्छिक दारिद्र्य

तेलुगु के भक्त-कवि 'पोतना' का किस्सा है। जैसे 'एडुत्तच्छन्' की रामायण केरल में चलती है, वैसे ही आन्ध्र में 'पोतना का भागवत' चलता है। वह एक किसान था। खेती करते-करते भागवत-कथा, भागवत के स्कन्ध तेलुगु में उसने लिखे। उसके किसी मित्र ने कहा कि यह ग्रन्थ राजा को समर्पित किया जाय, तो प्रचार भी होगा और मदद भी मिलेगी। वह दरिद्र किसान था। उसने यह कबूल नहीं किया। उसने कहा कि मैंने भगवान् की कथा गायी है। क्या वह मनुष्य को समर्पित करूँ ! और ऐसे मनुष्य को, जो दुनिया पर सत्ता चलाता है ! और इस आशा से कि कुछ मदद मिले ! सरस्वती को पश्चात्ताप होगा कि वह मेरी जिह्वा में आकर बसी। इस तरह वह दरिद्र ही बना रहा। राजा ने यह सुना, तो वह नाराज भी हुआ। पर उसने उसकी परवाह नहीं की।

इस प्रकार कई महापुरुषों की कहानियाँ सुनायी जा सकती हैं। सारे साहित्यिक और सारे कवि किस आधार पर रहते हैं ! जिस आधार से हरएक का श्वास-उच्छ्वास चलता है, उससे बढ़कर कौन-सा आधार चाहिए ? परमेश्वर का वही आधार हमारे लिए पर्याप्त है। ऐसे ऐच्छिक दारिद्र्य में हमारे यहाँ के कवि रहते थे।

तमिलनाड के महापुरुष 'माणिक्यवाचकर' पांडयन् राजा के राज्य के प्रधानमन्त्री थे। उन्होंने वहाँ का थोड़े दिन तमाशा देखा। जीवन नीरस मालूम हुआ, तो सब कुछ छोड़कर गाँव-गाँव घूमने लगे। सुन्दर भजन लिखे। तमिलनाड की जनता उनके पीछे पागल है। इस तरह के अनेक सत्पुरुष, साहित्यिक और कवियों के नाम आपके सामने गा सकता हूँ। हिन्दुस्तान के राजा-महाराजाओं से पुरस्कार मिला, पर शायद उससे ज्यादा पुरस्कार अन्तर्यामी परमेश्वर से मिला था। उसी आधार पर हमारे यहाँ के साहित्यिक और कवि जीये और लोक-जीवन में पैठ गये। अगर वे राजाश्रय पर खड़े हुए होते, तो जहाँ राजा गये, वहाँ वे भी चले

जाते। आज है कोई राजा? कितने आये, कितने गये, कोई हिसाब नहीं। हिन्दुस्तान तो एक ही राजा को जानता है 'राजा राम'।

सर्वोदय-समाज की कल्पना हमें इसीलिए प्रिय है कि वह कोई सत्ता नहीं माँगता है, केवल राम की सत्ता मांगता है। हिन्दुस्तान के साहित्यिक लोक-जीवन में घुल-मिल गये, इसका एक ही कारण है। वे राजाश्रय पर नहीं रहे, ऐच्छिक दारिद्र्य में रहे।

योगारूढ़ दशा

गीता में योगारूढ़ का वर्णन आया है। जिसका योग अपूर्ण रह जाता है, उसे अपना योग पूर्ण करने के लिए दूसरा जन्म मिलता है। योग याने कांग्रेस-योग नहीं, साम्ययोग। नया जन्म किस प्रकार का मिलता है? वर्णन में गीता ने 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' शब्द प्रयोग किया है। पवित्र और श्रीमान् कुल में, घर में। श्रीमान् का अर्थ पैसेवाला नहीं। अध्ययन की सामग्री और साधन जिस कुल में है, ऐसे श्रीमान् कुल में जन्म मिलता है। दूसरा जन्म और भी दुर्लभ है, दुर्लभतर है। 'तर' प्रत्यय का उपयोग किया है। शंकराचार्य भाष्य लिख रहे हैं। दूसरा जन्म कौन-सा? धीमान् योगियों के कुल में। एक ओर श्रीमान् और दूसरी ओर धीमान् को खड़ा किया है। वैसे ही एक ओर शुचि और दूसरी ओर योगी को खड़ा किया है। पवित्र श्रीमान् पुरुष के कुल में जन्म पाना बड़ा भाग्य है। पर उससे भी अधिक भाग्य है, धीमान् योगी के कुल में जन्म पाना। बड़ी लायब्रेरीवाले के घर जन्म पाने से अधिक भाग्य की बात है, ज्ञानी के घर जन्म पाना। साधना-सामग्री से बढ़कर धी है। श्रीमान् योगी के कुल में जन्म पाना दुर्लभ है। शंकराचार्य अपनी ओर से इसमें एक और शब्द जोड़ दे रहे हैं। 'धीमान् याने दरिद्र कुल।' इस अर्थ में अद्भुत भाष्य है। बुद्ध का जन्म 'शुचीनां श्रीमतां' घर में हुआ। उसका उन्होंने अत्यन्त ठीक उपयोग किया। कारुण्यपूर्ण दृष्टि से दुनिया की ओर देखा। यह 'शुचीनां श्रीमतां' का उदाहरण हुआ। अब 'योगिनां धीमतां' का उदाहरण चाहिए। शंकराचार्य अपनी ही तरफ इशारा कर रहे हैं। वे

स्वयं गरीब के घर जनमे थे। इस वास्ते 'श्रीमतां' के साथ 'दरिद्राणाम्' शब्द जोड़ दिया।

अक्सर देखा गया है कि हिन्दुस्तान के साहित्यिक गरीबों में जाकर उनके समान जीवन बिताने में अपना सौभाग्य समझते हैं। दारिद्रय एक चीज है और ऐच्छिक दारिद्रय दूसरी चीज। वे दारिद्रय वरण करके जनता में घुल-मिल गये, इसलिए जन-हृदय पर उनका गहरा और अमिट प्रभाव है।

साहित्यिकों की शक्तियाँ

साहित्यिकों के पास वाणी, श्री, कीर्ति, क्षमा, मेधा, धृति, स्मृति—ये सात बड़ी शक्तियाँ हैं। वाणी बड़ी भारी शक्ति है। स्मृति, क्षमा, धृति ये सारी महान् शक्तियाँ समाज के लिए बड़ी प्राणदायी हैं। साहित्यिक में कम-से-कम दो शक्तियाँ—वाक् और मेधा—अवश्य होनी चाहिए। और भी हो सकती हैं। परन्तु इन दो के बिना कोई साहित्यिक नहीं बन सकता। ये जो शक्तियाँ हैं, उनका दान सर्वोदय के काम को मिले, ऐसी हमारी नम्र अपेक्षा है।

कवि और कृषि

इंग्लैण्ड साम्राज्य के शिखर पर बैठ गया, तो वहाँ की काव्य-शक्ति कम हो गयी। आज वहाँ क्या हालत है? ११० लाख व्यक्ति लन्दन में रहते हैं। इंग्लैण्ड की कुल आबादी साढ़े पाँच करोड़ है। ⅕ अकेले लन्दन में रहते हैं। और भी कई बड़े-बड़े शहर हैं। सबका सम्बन्ध अब प्रकृति से नहीं रहा। ऐश्वर्य में पड़े हैं। दुनियाभर से खाना आता है। सारा प्रबन्ध सरकार कर देती है। अब वहाँ का जीवन कवि को स्फूर्ति नहीं देता। यही हालत सब देशों की है। जब लोगों का जीवन प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ होता है, तब वह जीवन उन्नत होता है। जब मानव-हृदय उन्नत होता है, जब प्रकृति से सम्बन्ध, समत्व होता है, तब साहित्यिकों को स्फूर्ति होती है।

सर्वोदय-समाज ऐसी कोशिश करता है कि हरएक को जमीन मिले। काशी के विद्वान् वैदिक पण्डितों ने अपने दुःख हमारे सामने रखे। उन्होंने कहा कि आजकल वेद-विद्या को कम आश्रय मिलता है। हमने कहा,

वेदाध्ययन के साथ खेती करने को राजी हों, तो जमीन दिला सकेंगे। कहने में खुशी होती है, उन्होंने समिति बनायी और कहा कि हम वेदाध्ययन के साथ खेती करेंगे। काशी की भूदान-समिति से हमने कहा कि इन्हें यदि और किसी मदद की जरूरत हो, तो वह भी आप दें। अगर वैदिक अपने हाथ से खेती करेंगे, तो यह बहुत बड़ा काम होगा। वेद में मानव-जीवन को कृषि-जीवन ही कहा है। वेद में पंचकृष्टयः यानी पाँच कृषिकार ऐसा शब्द आता है। पाँच समाज यानी पाँच कृषक। 'कृष्ण' शब्द भी कृषि से पैदा हुआ है। कृष्ण में 'कृष' धातु है। कृष यानी खेती करना। हिंदुस्तान की हवा में जो भी खेती करता है, उसका रंग काला हो जाता है, इसलिए 'कृष्ण' का अर्थ 'काला' हो गया। मूल अर्थ है खेती करनेवाला। इसलिए शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल जीवन खेती करनेवाले का है। 'कुरल' में हमने एक सुन्दर वाक्य पढ़ा। कुरल तिरुवल्लुवर की कृति है, यह तो आप जानते ही होंगे। वह वाक्य है : 'उल् तुंदुंडु वाल्वारे वाल्वार' जो खेती करके जीते हैं, वे ही जीते हैं।

वाग्दान की माँग

हम चाहते हैं कि कवि भी एक एकड़ जमीन ले लें और सृष्टि से सम्बन्ध जोड़ें। प्रकृति के साथ सबका जीवन-सम्बन्ध जुड़ जाय, यह सर्वोदय के लिए जरूरी है। सर्वोदय में कोई भी काम ऊँचा नहीं, कोई भी नीचा नहीं। उसमें समत्वयोग साधना है। उसमें अपना स्वार्थ समाज की शरण में ले जाने से मानव-हृदय उन्नत होता है।

तीन कारणों से ही कवियों को स्फूर्ति मिलती है : (१) मानव-हृदय की उन्नति। (२) सामाजिक समत्व। (३) प्रकृति के साथ सम्बन्ध। हम समझते हैं कि सर्वोदय के काम में ऐसी शक्ति है, जिससे साहित्य को प्रेरणा मिल सकती है। हम नम्रता से माँग करते हैं कि आप अपना वाग्दान इस आन्दोलन को दीजिये।

त्रिवेन्द्रम् (केरल)
२३-४-'५७

साहित्यिक स्वयं नम्र होते हैं। लेकिन नम्र होते हुए भी वे बहुत ऊँचे होते हैं। नम्रता से ही उनकी ऊँचाई बढ़ती है।

शब्द की हम बहुत कीमत करते हैं। शब्द में जो शक्ति है, वह और किसी चीज में नहीं। हमारे जीवन पर शब्द का जो प्रभाव है, उसके अनुभव से हम यह कह रहे हैं। पाणिनि का एक सूत्र है : 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सम्यक् प्रयुक्तः स्वर्गलोके कामधुक् भवति।'—एक शब्द का भी उच्चारण होता है, तो 'स्वर्गलोके कामधुक्' होता है ! संस्कृत भाषा में शब्द-शक्ति पहले बहुत प्रकट हुई। अंग्रेजी भाषा में भी लाखों शब्दों का संग्रह है। परन्तु वह केवल शब्द-संग्रह है, उससे शब्द-शक्ति प्रकट नहीं होती। एक-एक यन्त्र के असंख्य पुरजे होते हैं। प्रत्येक का अलग-अलग नाम होता है। इस तरह एक-एक यन्त्र में १०-१०, २०-२० शब्दों का उपयोग होता है। परन्तु ऐसे शब्द-भण्डार से शब्द-शक्ति बढ़ती नहीं ! वह तो ऐसी बात है कि जीवन में जितना परिग्रह बढ़ेगा, जितना कचरा बढ़ेगा, उतने शब्द भी बढ़ेंगे ! वह तो शब्दों का ढेर ही होगा। पर उससे विचार-संपदा नहीं बढ़ती। अंग्रेजी में विचार-संपदा बहुत है, लेकिन हम संस्कृत में शब्द की जो महिमा देखते हैं, वह महिमा वहाँ नहीं है। पचास नयी-नयी चीजें बनेंगी, तो उनके लिए पचास नये शब्द होंगे। परन्तु ऐसे शब्दों के संग्रह से व्यर्थ परिग्रह हो जाता है, यह अब पाश्चात्य लोग भी समझ गये हैं। इसलिए एक-एक यन्त्र के एक-एक पुरजे को वे अलग-अलग नाम नहीं देते, आँकड़ों में नाम देते हैं। किसी यन्त्र का पुरजा खरीदना है, तो कहेंगे : "फलाँ यन्त्र का पुरजा नम्बर फलाँ-फलाँ।" आँकड़ों में ही माँग भी की जायगी ! इस तरह यन्त्रों के पुरजों को अनेक नाम देने के बजाय आँकड़ों से काम लेने लगे।

शब्द—विचार के प्रतिनिधि

परन्तु संस्कृत में ? संस्कृत में विचार के प्रतिनिधि के तौर पर शब्द बनाये गये हैं। जैसे, यह 'पृथ्वी' है। इंग्लिश में कहते हैं, 'अर्थ', लैटिन में कहेंगे, 'टेरा'। लेकिन संस्कृत में पृथ्वी के लिए पचास शब्द मिल जाते हैं। 'पृथ्वी'—फैली हुई, 'धरा'—धारण करनेवाली, 'भूमि'—तरह तरह के पदार्थों को जन्म देनेवाली, 'गुर्वी'—भारी; वजनदार, 'उर्वी'—विशाल, 'क्षमा'—सहन करनेवाली; हम लात मारते हैं, तो भी वह सहन करती है। इस प्रकार एक-एक शब्द एक-एक गुणवाचक है। एक-एक शब्द के साथ उसका एक-एक गुण ध्यान में आता है। कवि कविता में कोई भी शब्द मात्रा देखकर रख देते हैं। वे समझते हैं कि छन्द बनाने के लिए ही इतने शब्द हैं। पर वे छन्द के लिए नहीं हैं। विशेष गुण-दर्शन के लिए, एक-एक वस्तु के लिए ये अनेक शब्द हैं। जब हम व्यापक, फैली हुई 'पृथ्वी' कहते हैं, तो हम उस पदार्थ की तरफ अन्दर से देखने लगते हैं।

इस तरह संस्कृत शब्दों में विचार भरा है। संस्कृत का हरएक शब्द हमसे बात करता है ! अंग्रेजी का शब्द बात नहीं करता ! 'वॉटर' शब्द हमसे बात नहीं करता, हम ही उससे बात करें, तो बात अलग है ! लेकिन संस्कृत शब्द हमसे बात करने लगता है। 'पयः' = पोषण करनेवाला। 'पानीयम्' = तृप्त करनेवाला। 'उदकं' = अन्दर से बाहर आया हुआ। 'समुद्र' छोटा-सा शब्द दीखता है; लेकिन वह भी बात करता है। 'सम' याने चारों तरफ समान फैला हुआ, 'उद्' याने ऊँचा उठा हुआ, ऊँचा आया हुआ पानी। 'रम' याने आल्हाददायक, जो खेल रहा है, उछल रहा है, आनन्द देता है। तो 'समुद्र' याने सम + उद् + रम ! 'समुद्रात् ऊर्मिः मधुमान् उदारत्।' वेद ने कहा है : इस हृदय में समुद्र के समान असंख्य भावनाएँ उठती हैं। यह हृदय याने समुद्र ही है। समुद्र का दृश्य इस हृदय में प्रकट होता है। पर 'सी' (sea) कहेंगे, तो क्या होगा ? है वह एक पदार्थ ! वह शब्द बोलता नहीं, मूक है।

'पूतम्' = शोधन किया हुआ, स्वच्छ ! 'घृतम्' = अत्यन्त पवित्र, निर्मल, कचरा निकाला हुआ। 'घृतं मे चक्षुः' विश्वामित्र बोल रहा है : 'मेरी आँख घी की है।' किसी अंग्रेजी या दूसरी भाषा में वह नहीं देखा कि कोई कहे, 'मेरी आँख घी है!' 'घृतं मे चक्षुः' कहा, तो उसका अर्थ है, 'मेरे चक्षु इतने पवित्र हैं कि उनमें किसी प्रकार का पाप ग्रहण करने की शक्ति नहीं है, वह अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ है!'

'अग्नि' याने 'फायर'। पर 'फायर' कहने से कुछ बोध हुआ? कुछ नहीं। लेकिन 'अग्नि', अंजनात् अग्निः; तो रूप प्रकट हो गया, व्यक्त हो गया। 'वह्निः' = वह वाहक है, ले जाता है, सन्देश-वाहक है। यज्ञ में आहुति डालते हैं, तो वह अग्नि आपकी भक्ति ऊपर भगवान् के पास पहुँचाता है। तो 'अग्निमीळे पुरोहितम्' के बदले 'वह्निमीळे पुरोहितम्' नहीं चलेगा! बिल्कुल ही दूसरा अर्थ होगा! इस तरह एक-एक शब्द का विशेष महत्त्व है। संस्कृत में एक-एक शब्द का व्यक्तित्व है। 'पीयूष', 'अमृत', 'सुधा'; ये तीन शब्द अमृत के लिए हैं, परन्तु हरएक से विशेष अर्थ का बोध होता है। 'अमरा निर्जरा देवाः' अमरकोश का आरम्भ ही इस वाक्य से होता है। 'अमरा' अलग है और 'निर्जरा' भी अलग है। अमर तो वह है, जो मरता नहीं। लेकिन मान लो कि बूढ़े हैं, रोग से पीड़ित हैं, तो क्या वे अमर होना पसन्द करेंगे? वे तो भगवान् से प्रार्थना करेंगे कि मुझे जल्दी ही ले जा! इसीलिए 'निर्जरा' कहा है। 'निर्जरा' याने जरारहित। जरा-रहित होंगे, तब तो वे अमर हो सकते हैं!

संस्कृत का शब्दकोश भी काव्य रखता है। एक शब्द की कितनी तरह से व्युत्पत्ति होती है! एक शब्द के अनेक अर्थ और अनेक अर्थ का एक शब्द! इसलिए वाक्-प्रकाशन निर्मलता से संस्कृत में जितना होता है, उतना शायद ही किन्हीं दूसरी भाषाओं में होता होगा। मैं कहना चाहता हूँ कि इस देश में शब्द-शक्ति बहुत है। अरेबिक, ग्रीक, लैटिन

इनमें भी कुछ शक्ति है। उनसे कुछ तुलना हो सकती है, परन्तु संस्कृत का शब्द जैसे व्याख्यान देना शुरू करता है, वैसे वहाँ के शब्द नहीं देते। 'घट्' शब्द है। 'घट' याने घड़ा। परन्तु 'घट' याने शरीर, यह भी अर्थ होता है। घड़े में पानी रखते हैं, वैसे इस शरीर में क्या है? पानी ही भरा है। हम स्वागत करते हैं, पानी से भरे हुए घड़े द्वारा, पूर्ण कुम्भ से। तब हम क्या दिखाना चाहते हैं? यही कि हमारा सारा हृदय भक्ति-भाव से भरा है। इस अर्थ में वह 'घट' शब्द काम देगा। नानक ने कहा है, 'प्रभु घट-घट में भरा है।' हमारे सामने जो बैठे हैं, सब घट ही हैं, सब भरे हैं! यह पता नहीं कि किससे वे भरे हैं! यह भी हो सकता है कि कुछ नाहक चीजों से भी भरे होंगे। कहने का मतलब यह कि 'घट' शब्द की यह खूबी है। 'पॉट' (Pot) कहने से वह प्रकट नहीं होती, क्योंकि घट की एक घटना है न? हमारा शरीर एक घटना रखता है। वैसे तो 'घट' शब्द घटना को सूचित करता है! इस तरह अंग्रेजी, फ्रेंच आदि शब्द हमको उनके अन्दर पैठने नहीं देते, लेकिन यहाँ के शब्द हमको अपने में प्रवेश देते हैं। इसीलिए शब्द की शक्ति प्रकट होती है।

'चक्षु' शब्द है। 'चक्ष' धातु निर्मलता, स्वच्छता का द्योतक है। आँख से हम जितना बोलते हैं, उतना मुँह से नहीं। हमको गुस्सा आता है, तो आँख बोलती है! अन्दर करुणा है, तो आँख बोलती है! शब्द से अधिक प्रकाश आँख देती है। उसी तरह 'व्याचक्षते' याने व्याख्यान देना। चक्षु पर से ही 'व्याख्यान' शब्द निकला है। हम हिन्दुस्तान के लोग ज्यादा व्याख्यान सुनना नहीं चाहते, इतनी हमारी महापुरुषों के दर्शन पर श्रद्धा है। उनकी आँख में जो दीखता है, वह किसीसे भी प्रकट नहीं होता! उनकी आँख में कारुण्य भरा रहता है। 'कारुण्य' याने भी क्या? मर्मी, [illegible] कुछ भी कहें; लेकिन अर्थ प्रकट नहीं होता। परन्तु 'करुणा' क्या कहती है? वह कुछ-न-कुछ 'करने' की प्रेरणा देती है। हृदय में प्रेम है, परन्तु करने की प्रेरणा नहीं,

तो वह 'करुणा' नहीं। करुणा चुप नहीं बैठती। लोग पूछते हैं, "बाबा घूमता क्यों है? थकता कैसे नहीं, इतना घूमने पर भी?" तो यह करुणा ही है, जो उसे घुमाती है। वह कुछ करने के लिए बाबा को प्रेरित करती है, बैठने नहीं देती। एकाध बच्चे को बिच्छू ने काटा, तो क्या हम देखते ही रहते हैं? एकदम सेवा करने के लिए दौड़े नहीं जाते हैं? करुणा भी आसन पर बैठने नहीं देती, उठने की ही प्रेरणा देती है। यह हमारी 'बुद्धि' है! वह बोध देती है, यह उसका विशेष लक्षण है। अपने सामने हम शुभ्र वस्त्र देखते हैं। शुभ्र याने क्या? 'शुभ्र' याने पवित्र। 'शुभ्र' याने सिर्फ 'व्हाइट' नहीं। शुभ शब्द के साथ उसका सम्बन्ध है। शोभा से ही उसका सम्बन्ध है। तो सौन्दर्य, पावित्र्य एक कर दिया है। सामने 'शुक्र' का आकाश में उदय होता है। शुक्र पवित्र है। 'शुचि' शब्द से शुक्र हुआ है। उसे देखते हैं, तो पावित्र्य की भावना प्रकट होती है। 'सूर्य' है। वह प्रेरणा देता है। 'सू' धातु से 'सूर्य' बना। 'सू' याने प्रेरणा देना। 'मित्र' शब्द है। मित्र क्या करता है? प्रेम करता है। सूर्य को 'मित्र' संज्ञा हिन्दुस्तान के लोग देते हैं। उसकी किरणों में, प्रखर होते हुए भी, हम घबड़ाते नहीं। मित्र तो वे होते हैं, जो हमसे कार्य कराते हैं। हम सोते रहते हैं, तो वह जगाता है। बैठे हैं, तो वह काम करवायेगा। यह सारा यत्न करनेवाला 'मित्र' है। तो 'मित्र' संज्ञा केवल सूर्यवाचक ही नहीं है, 'प्रेम से सबकी सेवा करनेवाला' अर्थ भी उसमें निहित है। हम यहाँ बैठे हैं। कमरे के दरवाजे बन्द हैं। सूर्य-नारायण बाहर उग रहा है, तो वह क्या करता है? वह हमारी सेवा करना चाहता है। सेवक के नाते हमारे दरवाजे पर हाथ रखकर तत्पर रहता है। हम थोड़ा-सा दरवाजा खोलेंगे, तो थोड़ा-सा ही वह भीतर आयेगा। एकदम पूरा खोल देंगे, तो वह भी अन्दर मुक्त रूप से प्रवेश करेगा। परन्तु दरवाजा बन्द है, तो दरवाजे को धक्का नहीं देगा। बाहर खड़ा रहेगा! यह 'मित्र' की मर्यादा है! वह कभी गैर-हाजिर नहीं रहेगा। स्वामी चाहे सोता रहे देर तक, पर वह नहीं सोयेगा! इस तरह

सेवक का पूरा चित्र सूर्य में हम देख सकते हैं। इस प्रकार शब्द हममें बोलते हैं।

इस प्रकार की साहित्य-शक्ति भारत में है, इस पर अभी तक ध्यान नहीं गया है। ध्यान तब तक नहीं जायगा, जब तक हम जीवन के अन्दर प्रवेश नहीं करेंगे। 'सुमन' याने उत्तम पुष्प। वह हम अर्पण करते हैं, याने हमारा स्वच्छ, निर्मल जो मन है, वह हम अर्पण करते हैं। यह 'सुमन' की खूबी दूसरे शब्दों में नहीं है। तो, यह सब ध्यान में रखकर हमको अपना चिन्तन ठीक ढग से करना चाहिए, तभी हिन्दुस्तान का चिन्तन दूसरे देशों से भिन्न होगा। आज क्या करते हैं? बाहर से—इम्पोर्टेड—शब्द लाते हैं और हमारी भाषा में लादते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे जीवन में वह शब्द 'एसिमिलेट' (हजम) नहीं होता।

'सेक्युलर स्टेट'

अब 'सेक्युलर स्टेट' की ही कल्पना लीजिये। यह बिलकुल एकांगी कल्पना है! वह हमसे 'एसिमिलेट' नहीं हो सकती। यूरोप में वैसी परिस्थिति थी, तो वहाँ वैसा रिवाज चल सकता था। हिन्दुस्तान में 'धर्म' शब्द निकला। धर्म याने क्या? धर्म याने सबको धारण करना है। स्टेट का भी धारण करना है। 'स्टेट का धर्म से कोई ताल्लुक नहीं', ऐसा कोई कहता है, तो इस बात का हिन्दुस्तान में बिलकुल ही अलग अर्थ होता है! क्या ऐसा है कि 'सेक्युलर' याने परलोक का विचार नहीं करना चाहिए और इहलोक का विचार करनेवाली ही यह संस्था है! फिर भी एकता, समता को तो मानते हैं! तब यह विरोधी कल्पना लोग कैसे मान सकते हैं? इहलोक की तो प्रतिज्ञा करेंगे और सबको समान वोट का अधिकार भी देंगे! तो बताइये कि समान वोट के अधिकार का अधिष्ठान क्या भौतिक सृष्टि के अनुकूल है? इसका कोई उत्तर उनके पास नहीं है। बाह्य समानता तो किसी भी हालत में नहीं हो

सकती, क्योंकि एक शख्स बलवान् होता है, तो दूसरा दुर्बल। तो स्पष्ट है कि हमारे शरीर से यह सम्बद्ध नहीं है। बुद्धि के आधार पर निर्णय लिया है, तो किसीको बुद्धि होती है, किसीको नहीं! एक घर में ज्ञानी भी होता है, अज्ञानी भी। तो फिर सबको एक वोट का अधिकार देने के पीछे क्या हेतु है? इसका उत्तर आध्यात्मिक सृष्टि में गये बगैर नहीं मिलेगा! जहाँ आपने एक वोट का अधिकार सबको दिया, वहाँ आपने आत्मिक एकता कबूल की। अगर बुद्धि तक ही आप सीमित रहना चाहते हैं, तो 'हरएक मनुष्य को एक वोट', यह विचार ही खतम हो जाता है! फिर भी सबको एक वोट दिया है, तो आपने कौनसा साम्य देखा? क्या भौतिक साम्य देखा? नहीं, आत्मिक साम्य ही देखा है। इसका मतलब है कि आपने आत्मा की एकता मान्य की है! 'हम तो केवल भौतिक चिन्तन करते हैं', यह दावा अब आप नहीं रख सकते! याने 'सेक्युलर स्टेट' में 'स्पिरिचुअल वैल्यू' आपने मान्य की! 'सेक्युलर स्टेट' शब्द की न्यूनता ध्यान में आयी, तो सबको एक वोट का अधिकार दिया गया! तो, ठीक शब्दों का उपयोग करते हैं, तो अच्छा है, अन्यथा उससे गलत धारणा भी हो जाती है। 'इण्डिपेण्डन्स' कितना निकम्मा शब्द है! दुनिया में क्या होता है? हर शख्स तो एक-दूसरे पर अवलम्बित ही है! तब कहाँ रहा इण्डिपेण्डन्स? लेकिन 'स्वराज्य' पॉजिटिव (भावात्मक) अर्थ बताता है। स्वयमेव राज वह होता है। वह स्वयं प्रकाशित होता है। आज तो हम यहाँ परदेश की ही बुद्धि लेते हैं, तो वह 'स्वराज' कैसा होगा? केवल हमारा राज हम चलाते हैं, इतने से क्या हो गया 'स्वराज'? वेद में आदित्य को स्वराज्य की उपमा दी है! सूर्य है 'स्वराट्', क्योंकि वह स्वयंप्रकाशित है। चन्द्र है, परप्रकाशित। वेद में अत्रि के मण्डल में कहा है: 'यतेमहि स्वराज्ये'— 'स्वराज्य के लिए हम यत्न कर रहे हैं।' आप क्या समझते हैं कि उस जमाने में किसीका उन पर राज था या वे परतन्त्र थे? ऐसा अर्थ नहीं है। मतलब यह है कि जब तक बुद्धि आत्मनिष्ठ नहीं होती,

तब तक स्वराज्य नहीं ! अन्दर से प्रकाश मिलेगा, तो स्वराज्य प्रकट होगा। परन्तु आप कहते हैं, इण्डिपेण्डन्स ! परन्तु किसीका किसीसे बनता नहीं !

आप कहते हैं, 'सोशिआलिस्टिक स्टेट' बनानी है। हिटलर का भी एक प्रकार का सोशिआलिज्म ही था ! तो इस शब्द से कुछ अर्थ ही नहीं निकलता। व्यक्ति को समाज से अलग निकालते हैं और समाज को व्यक्ति से अलग समझते हैं, तब कैसे अर्थ निकलेगा ? जो कल्पना से भी अलग नहीं हो सकते, उनको तो पहले अलग कर दिया और फिर दोनों के बीच का झगड़ा मान्य किया ! अब कहते हैं, उसको मिटाने के लिए 'सोशिआलिज्म' लाना चाहिए !

आज हरएक अपना-अपना ही हित देखता है। सारा चिन्तन ही गलत ढंग का चल रहा है। जब तक हम अपने शब्द की शक्ति नहीं पहचानेंगे और पश्चिम से शब्द लेते जायेंगे, तब तक हमारा चिन्तन ऐसा ही गलत ढंग से जारी रहेगा। हम अपने शब्दों में चिन्तन करेंगे, तो सारी दुनिया से हमारा चिन्तन भिन्न रहेगा। यह सारा साहित्यिकों को करना है। अंग्रेजी, चीनी, जापानी, फ्रेंच आदि अनेक भाषाओं में साहित्य है। यह ठीक है कि जो अच्छी चीज है, हमारे लायक है, वह वहाँ से लेनी चाहिए। पर ऐसी ही चीज हम लें कि जो हमारे शब्दों में पैठती है। अगर वह चीज हमारे शब्दों में ठीक पैठती है, तो वह कल्पना हमारे लिए ठीक है। अगर नहीं पैठती है तो गलत है। आज बहुत से गलत शब्द हमारे चिन्तन में पैठ गये हैं। परिणामस्वरूप गलत चिन्तन होता है। इसलिए शब्द-शोधन का कार्य साहित्यिकों को करना चाहिए। ठीक शब्द लोगों के सामने रखने चाहिए, तब बहुत से झगड़े मिटेंगे।

एक भाई ने पूछा : "अनेक सन्त पुरुष हो गये। उन्होंने कई बातें कही हैं। परन्तु बिना 'फोर्स' के क्या कोई काम हो सकता है ?" सोचने की बात है कि इतने सन्त-महात्मा हो गये, इसीलिए हम आज जैसे हैं, वैसे बने हैं। अगर वे नहीं होते, तो हम जानवर बने रहते। हम कहाँ से

कहाँ आ गये हैं ! महाभारत का प्रसंग है । सवाल उपस्थित हुआ कि पत्नी पर पति का हक है या नहीं । सवाल कठिन मालूम हुआ । बड़े-बड़े ज्ञानी-विद्वान् वहाँ थे, परन्तु 'भीष्म, द्रोण, विदुर भये विस्मित'— कोई भी उसका जवाब नहीं दे सका । लेकिन आज का बच्चा-बच्चा इसका जवाब जानता है । विदुर याने क्या ? पाणिनि का सूत्र है : 'यथा विदुर भिदुरौ' । भेद करने में अत्यन्त प्रवीण, वे 'भिदुर' होते हैं । भिदुर याने तोड़ने फोड़नेवाला । तोड़ने-फोड़नेवाला तो वज्र होता है । वज्र को भिदुर कहते हैं । सूत्र में यही बताया है कि विद् और भिद् ये ही दो ऐसे धातु हैं, जिनको 'उरु' प्रत्यय लगाकर विशेष अर्थ के शब्द बने हैं । 'भिद्' धातु को 'उरु' प्रत्यय लगाकर 'भिदुर' बना, जिसका अर्थ होता है, भेदन करने में प्रवीण और 'विद्' धातु को 'उरु' प्रत्यय लगाकर 'विदुर' बना है, जिसका अर्थ है, महाज्ञानी । ऐसा महाज्ञानी वहाँ बैठा है, फिर भी निर्णय नहीं हो सका ! सवाल यही था कि चैतन्य-मय प्राण को 'पन' में लगा सकते हैं कि नहीं ? धर्मराज धर्मनिष्ठ, सत्यनिष्ठ राजा था । उसको द्यूत का निमन्त्रण दिया गया, तो वह 'नहीं' न कह सका । समझता था कि 'नहीं' कहना धर्म के विरुद्ध है । आज तो कानून भी कहेगा कि द्यूत खेलना गैरकानूनी है, अनैतिक है । लेकिन उस वक्त युधिष्ठिर 'नहीं' न कह सके । डर था कि अधर्म होगा ! कितनी छोटी-छोटी कल्पनाएँ थीं ! परन्तु वहाँ से आप-हम यहाँ तक आये हैं, तो यह सारा सत्पुरुषों का ही कार्य है ।

आज दुनिया में सब 'वर्ल्ड पीस' के लिए प्रयत्न कर रहे हैं । लेकिन बनता कुछ नहीं ! इसका मतलब यह नहीं कि सन्तों ने, महापुरुषों ने जो कार्य किया, उसका कुछ भी असर नहीं हुआ है । 'पीस' आज इसलिए नहीं है, क्योंकि उस शब्द में कुछ भी अर्थ नहीं है ! वह शब्द ही अर्थशून्य है । जिसको हम शान्ति कहते हैं, वह 'पीस' नहीं है । वह 'पीस' तो 'वायलेण्ट' भी हो सकती है ! किसी देश पर व्यापारी-बहिष्कार डाला जाता है । यह बिलकुल 'पीसफुल ऐक्शन' है । लेकिन इसमें भी हिंसा

होती है। तो वह शान्ति नहीं है। शान्ति शब्द का 'पीस' के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। 'पीसफुल' याने प्रत्यक्ष लाठी नहीं चलायेंगे; बल्कि युक्ति-प्रयुक्ति से किया हुआ काम भी 'पीसफुल' माना जाता है! इसलिए 'पीस' 'विश्व-शान्ति' करने में निकम्मी है। पाश्चात्य शब्द के परिणामस्वरूप हमारे चिन्तन में ये सारे विचार-दोष आते हैं। इसीलिए साहित्यिकों के सामने इतना ही कहना है कि आप शब्द-शुचित्व की तरफ ध्यान दें। शुद्ध शब्द का आविष्कार होगा, तो आचार-विचार शुद्ध होगा।

कोझीकोड
१२-७-'५७

विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य : १९ :

मैंने कहा कि साहित्य-देवता के लिए मेरे मन में बहुत श्रद्धा है। एक पुराना संस्मरण मुझे याद आता है। बचपन में मेरे जीवन के पहले दस साल एक देहात में बीते। उसके बाद के दस साल बड़ौदा जैसे शहरों में बीते। इसके बाद इधर-उधर कुछ घूमता रहा। आखिर गांधीजी के पास पहुँचा। आगे की बात यहाँ कहने का प्रयोजन नहीं। पहले दस साल में जब हम कोंकण के एक देहात में रहते थे, तब हमारे पिताजी वहाँ नहीं रहते थे। वे बड़ौदा में रहते थे। कुछ अध्ययन के सिलसिले में और पीछे काम के सिलसिले में। लेकिन वे अक्सर दीवाली के दिनों में घर पर आ जाते थे। मेरी माँ ने मुझसे कह रखा था कि अब तेरे पिताजी आनेवाले हैं और वे तेरे लिए कुछ 'खाऊ' लायेंगे। बच्चों के लिए जो मेवा-मिठाई लायी जाती है, उसे मराठी में 'खाऊ' कहते हैं। माँ ने मुझसे कहा कि दीवाली के मौके पर तेरे लिए मेवा-मिठाई आयेगी। मैं उसके इन्तजार में था। बिलकुल छुटपन की बात है। मेरी पढ़ाई का अभी आरम्भ ही हुआ था। उन दिनों गाँव में स्कूल तो थे नहीं। घर पर ही मेरे चाचा कुछ क, का, कि, की मुझे पढ़ाते थे। दीवाली पर पिताजी आये। उनके पास मैं पहुँचा। फौरन उन्होंने अपनी मिठाई निकालकर मुझे दे दी, जिसके इन्तजार में मैं था। अक्सर हम यह समझते हैं कि लड्डू जैसी कोई गोल-गोल मिठाई होगी। लेकिन उन्होंने जो चीज मुझे दी, वह गोल तो थी नहीं, चपटी थी। मैंने उस पाकेट को देखा। मैंने सोचा, कुछ विशेष प्रकार की मिठाई होगी। बरफी का कोई लम्बा-चौड़ा टुकड़ा होगा। लेकिन पिताजी ने मेरे हाथ में दो किताबें रख दीं। उन्हें लेकर हम माँ के पास पहुँचे। जब माँ के सामने किताबें रखीं, तो माँ बोली—बेटा, तेरे पिताजी ने आज तुझे जो मिठाई दी, उससे बढ़कर और कोई

मिठाई नहीं हो सकती। मुझे याद है कि वे रामायण और भागवत की कहानियाँ थीं। कितनी मर्तबा मैंने उन किताबों को पढ़ा, लेकिन माँ का यह वाक्य कभी नहीं भूला कि इससे बढ़कर कोई मिठाई हो ही नहीं सकती। उस वाक्य ने मुझे इतना पकड़ रखा है कि आज भी मुझे कोई मिठाई उतनी मीठी नहीं मालूम होती, जितनी कोई सुन्दर किताब मालूम होती है।

भगवान् की वैसे तो अनन्त शक्तियाँ हैं, पर साहित्य में उन शक्तियों की केवल एक कला ही प्रकट हुई है। भगवान् की शक्ति की यह कला कवियों और साहित्यिकों को प्रेरित करती है। कवि और साहित्यिक ही वह शक्ति जानते हैं। दूसरों को उसका दर्शन नहीं है। मुहम्मद पैगम्बर के लिए कहा गया है कि जब वे समाधि में लीन हो जाते थे, तब [illegible] हो जाते थे। उनके नजदीक के लोग भी बिलकुल घबरा जाते थे। यह कैसा घोर तप हो रहा है! इसमें कितनी तल्लीनता हो रही है! लेकिन वह चीज 'वही' थी, जिसे अरबी में 'वही' कहते हैं। 'वही' माने पुस्तक नहीं, किताब नहीं, 'वही' उस चीज को कहते हैं, जो परमेश्वर का सन्देश मनुष्य के पास पहुँचाती है। उसमें यन्त्रणा (टार्चर) होती है, घोर वेदना होती है। जब वह परमेश्वर का सन्देश मनुष्य के हृदय पर सवार होता है, तब बहुत ही तीव्र वेदना होती है, जिसकी उपमा प्रसूति-वेदना से दे सकते हैं। प्रसूति में बहनों को जो वेदना होती है, उससे यह वेदना बहुत ज्यादा होती है। यह तो मैं अपने अनुभव से ही कह सकता हूँ। कुछ ऐसा महसूस होता है कि हम अपने को बिलकुल खो रहे हैं। कोई चीज हम पर हावी हो रही है। ऐसी कोई चीज, जिसे हम टाल नहीं सकते, टालना चाहते हैं। ऐसा लगता है कि टले तो अच्छा है, लेकिन वह टल नहीं सकती, टाली नहीं जा सकती। ऐसी वेदना के अन्त में जो दर्शन होता है, वह लोगों को पढ़ने को मिलता है। लोगों को इतना ही मालूम होता है। वेदना तो लोगों को मालूम नहीं होती। उसे तो कवि और साहित्यिक ही जानते हैं।

कवि शब्द का मेरा अर्थ 'दो-चार कड़ियाँ जोड़ देनेवाला नहीं'। कवि क्रान्तदर्शी होता है। जिसको उस पार का दर्शन होता है, वह कवि है। इस पार को देखनेवाली ये दो आँखें हैं। यह तो इन दो आँखों का बड़ा उपकार है ही। यह सारी सजी हुई दुनिया हमारे सामने पेश करती है, दुनिया की रौनक दिखाती हैं। सृष्टि का सौन्दर्य हम इन्हीं दो आँखों से ग्रहण करते हैं। लेकिन ये दो आँखें गुनहगार भी हैं। इन दो आँखों से परे एक तीसरी चीज भी है, जो इनकी बदौलत छिप जाती है। इस खूबसूरत दुनिया से एक और भी निहायत खूबसूरत दुनिया है, जिसको ये दो आँखें छिपा रखती हैं। इन आँखों को वहाँ पहुँच नहीं है। इनके कारण मनुष्य इस दुनिया की ओर आकर्षित नहीं होता। लेकिन जब तीसरी आँख खुल जाती है, तब उस दुनिया का दर्शन होता है। दुनिया के सर्वसाधारण व्यवहारों के पीछे उनके अन्दर और उनकी तह में जो ताकतें काम करती हैं, उनका दर्शन होता है। उसमें से काव्य स्फूर्ति होती है। साहित्य की स्फूर्ति होती है। इसीलिए मेरी बहुत श्रद्धा साहित्यिकों पर है।

मुझसे पूछा जाता है कि परमेश्वर के अलावा इस दुनिया को बनानेवाला और कौन-कौन है? कोई समझते हैं कि राजनैतिक पुरुषों ने दुनिया बनायी। बड़े-बड़े इतिहास लिखे जाते हैं कि बाबर आया और उसने फलाना-फलाना काम किया। क्लाइव आया, उसने यह किया, वह किया। सफहे के सफहे लम्बे-चौड़े इतिहास लिखे जाते हैं। इतिहास के नाम से ये कहानियाँ चल पड़ती हैं। स्कूलों में बच्चों से रटायी जाती हैं। लेकिन मानव-जीवन में बाबर का कोई पता नहीं। क्लाइव का कोई हिसाब नहीं।

तीन शक्तियाँ

दुनिया को बनानेवाली तीन ताकतें हैं : विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य।

वैज्ञानिक दुनिया के जीवन को रूप देता है। आज मेरे सामने यह

लाउडस्पीकर खड़ा है, इसलिए शान्ति से सब सुन रहे हैं। अगर यह नहीं होता, तो मेरी आवाज उतने लोगों के पास नहीं पहुँचती। मुझे दर्शन और प्रणाम करके निकल जाना पड़ता या छोटी जमात में बोलना पड़ता। आज इतनी बड़ी जमात शान्ति से सुन रही है। इससे दसगुनी होती, तो भी सुन सकती है, इसकी कल्पना पहले के लोगों को हो ही नहीं सकती थी। दस-बीस मनुष्य साथ बैठकर जो शान्ति से श्रवण और कीर्तन होता है, उतनी ही शांति से लाखों मनुष्यों का कीर्तन, श्रवण, चिंतन, मनन एक साथ बैठकर हो सकता है। इसका कोई खयाल हमारे पूर्वजों को हो सकता था ! पूर्वजों की क्या बात ! हमारे ही छुटपन में बड़ी वक्ता दुनिया में काम देता था, जो स्वयं लाउड-स्पीकर होता था। बहुत बड़ी आवाज में बोलनेवाले कौन हैं, ऐसा ढूँढ़ना पड़ता था। फलाना वक्ता दस हजार लोगों को अपनी आवाज सुना सकता है। बस ! वह जीत गया ! किसीकी आवाज दो हजार तक ही पहुँच सकती है, तो वह हार गया। मेरी आवाज तो जवानी में भी, बहुत जोर करने पर भी डेढ़ हजार से आगे नहीं पहुँचती थी। उन दिनों अपना गला बहुत ऊँचा चढ़े, यह एक विद्या लोगों को सीखनी पड़ती थी। लेकिन अब यह लाउड-स्पीकर आ गया। इससे केवल जीवन में स्थूल परिवर्तन नहीं होता है। मानसिक परिवर्तन भी होता है। प्रिंटिंग प्रेस (छापाखाने) के कारण विज्ञान का कितनी आसानी से प्रचार हो सकता है, इसका कोई खयाल हमारे पूर्वजों को नहीं रहा होगा। करोड़ों की तादाद में पुस्तकें निकलती हैं, खपती हैं, बिकती हैं और कुछ पढ़ी भी रह जाती हैं। यह ठीक है कि गलत बातों का भी उससे प्रचार हो सकता है, वह बात अलग है। परन्तु जीवन को बदलने-वाली चीजें विज्ञान से पैदा होती हैं और वैज्ञानिकों ने जीवन को आकार दिया है, इसमें शक नहीं है। अग्नि की खोज के बाद सारे ऋषिगण भक्तिभाव से अग्नि के गीत गाने लगे। ये गीत वेदों में आते हैं। अब शायद अणुशक्ति के गीत गानेवाले ऋषिगण पैदा होंगे। आज तो वह संहार करने के लिए आयी है। संहारक के रूप में हमारे सामने खड़ी है।

लेकिन उसका शिवरूप भी है। केवल रुद्ररूप ही नहीं है। जब वह शिवरूप में प्रकट होगी, तब दुनिया के जीवन को बदलेगी।

दूसरी ताकत, जो जीवन को आकार देती है, वह है आत्मज्ञान। दुनिया में जहाँ-जहाँ आत्मज्ञानी पैदा हुए, उनकी बदौलत जीवन पूरा-का-पूरा बदल गया। ईसामसीह आये। गौतम बुद्ध आये। लाओत्से आये। मुहम्मद पैगम्बर आये। नामदेव आये। तुलसीदास आये। माणिक्यवाचकर आये। जगह-जगह ऐसे महात्मा आये। ऐसे एक-एक शख्स के आगमन से लोगों के जीवन का स्वरूप बदल गया। लोगों के जीवन का स्वरूप बदलनेवाली यह दूसरी ताकत है।

दुनिया को बनाने में तीसरी ताकत है साहित्य की। वाल्मीकि आये। व्यास आये। दाँते आये। होमर आये। शेक्सपियर आये। रवीन्द्रनाथ आये। ऐसे लोग दुनिया में आये और दुनिया को ऐसी चीज देकर गये, जो सदा के लिए जीवन को समृद्ध बना दे। दुनिया को उन्होंने ऐसी विचार-शक्ति दी, जिससे दुनिया का जीवन बदला। दुनिया में जो बड़ी बड़ी क्रान्तियाँ हुईं, उनके पीछे ऐसे विचारकों के विचार थे। ऐसे साहित्यिकों का साहित्य था, जिन्होंने पथदर्शन किया था। दुनिया को जब शान्ति की जरूरत हुई, तो शान्ति का विचार उन्होंने दिया। जब उत्साह की जरूरत हुई, तब उत्साह दिया। जब आशा की जरूरत हुई, तब आशा दी। जिस समय समाज को जिस चीज की जरूरत थी, वह चीज उन्होंने समाज को दी।

इन तीन ताकतों ने आज तक दुनिया बनायी। इसके आगे भी जीवन के ढाँचे को स्वतन्त्र रूप देनेवाली ये ही तीन ताकतें हो सकती हैं—विज्ञान, आत्मज्ञान और वाक्शक्ति, जिसे वाणी कहते हैं। विज्ञान से जीवन का स्थूल रूप बदलता है और वह मनुष्य के मन पर असर करनेवाली परिस्थितियाँ पैदा कर देता है। लेकिन वह सीधे मन पर असर नहीं करता। वाणी विज्ञान से आगे जाकर हृदय पर ही सीधा प्रहार करती है। वह हृदय तक पहुँच जाती है। आत्मज्ञान अन्दर प्रकाश डालता है।

विज्ञान बाहर से प्रकाश डालता है, आत्मज्ञान भीतर से प्रकाश करता है। इन दोनों के बीच वाणी पुल का काम करती है। वह दोनों किनारों का संयोग कराती है और दोनों तरफ रोशनी डालती है।

'राम नाम मणि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर-बाहिरहुँ जो चाहसि उजियार॥'

अगर तू अन्दर और बाहर दोनों ओर उजाला चाहता है, प्रकाश चाहता है, तो यह रामनामरूपी मणिदीप जिह्वारूपी देहरी द्वार पर रख ले। इस द्वार पर दिया जलाते ही बाहर और भीतर दोनों तरफ प्रकाश फैल जाता है। इतना उपकार वाणी करती है। यह मनुष्य को अनुपम देन मिली है भगवान् से। जानवरों को कहाँ मिली है? कम-से-कम हम नहीं जानते। शायद जानवरों की भी भाषा हो। सुनते हैं कि सुलेमान जानवरों की भाषा जानता था। कहते हैं कि वह चींटियों की भी भाषा जानता था। चींटियों की भी भाषा होगी। उनमें भी बुद्धि होगी। लेकिन हम नहीं जानते। जहाँ तक हम जानते हैं, यह वाणी की देन मनुष्य की शक्ति है। वह बड़ी भारी शक्ति है। इस शक्ति का जहाँ दुरुपयोग होता है, वहाँ समाज गिरता है। जहाँ उसका सदुपयोग होता है, वहाँ समाज आगे बढ़ता है। ऋग्वेद में कहा है :

'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।'

हम अनाज छानते हैं, तो उसमें से उत्तम बीज ले लेते हैं और जो ऊपर का छिलका, कचरा होता है, उसे फेंक देते हैं। वैसे ही जिस समाज में वाणी की छानबीन होती है, वहाँ लक्ष्मी रहती है। 'सक्तुमिव तितउना पवन्तः पुनन्तः' माने साफ करते है, पावन करते हैं। 'सक्तु' याने अनाज 'तितउना' याने छलनी से छाना जाता है। उसी तरह से 'यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत' याने ज्ञानी पुरुष मननपूर्वक वाणी की छानबीन करते है और उत्तम, पावन, पवित्र, शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ, सात्त्विक शब्द ढूँढ़ निकालते हैं, उस शब्द का प्रयोग करते है। उस समाज में लक्ष्मी रहती है। बहुतेरे

का यह खयाल है कि सरस्वती और लक्ष्मी का विरोध है। बिलकुल इससे उलटी बात ऋग्वेद ने कही है। यह कहना कितनी अज्ञान की बात है कि लक्ष्मी और सरस्वती का वैर है। वाणी तो संयोजन-शक्ति है। वह तो अन्दर की दुनिया और बाहर की दुनिया को, आत्मज्ञान और विज्ञान को जोड़नेवाली कड़ी है। दुनिया में जितनी शक्तियाँ मौजूद हैं, उन सब शक्तियों को जोड़नेवाली अगर कोई कड़ी है, तो वह वाणी है। उसका किसीके साथ वैर कैसे हो सकता है? तो लक्ष्मी के साथ सरस्वती का वैर, श्री के साथ वाणी का वैर बतलाना छोटे दिमाग की बात है। उसमें सूक्ष्म दृष्टि नहीं है। वेद ने जो कहा है, उसमें सूक्ष्म दृष्टि है। 'तत्र लक्ष्मी निहिता।' वहाँ लक्ष्मी छिपी हुई रहती है। निहित रहती है। वाणी सूक्ष्म शक्ति है। इसलिए उसके भीतर दूसरी शक्तियाँ छिपी हुई रहती हैं। मेरा बहुत ही भरोसा है वाणी पर। निरन्तर बोलता ही रहता हूँ। सुनता भी जाता हूँ। जितना बोलता हूँ, उससे बहुत ज्यादा सुनता हूँ। इसीमें वाणी की महिमा है। जो मैं बोलता हूँ, उसीमें वाणी की महिमा है और जो दूसरों की बात सुनता हूँ, तो उसमें क्या वाणी की महिमा नहीं है? उसमें भी वाणी की महिमा है। श्रवण और कीर्तन दोनों मिलकर वाणी बनती है। जितना बोले, उससे कम-से-कम दुगुना तो सुनना ही चाहिए। क्योंकि ईश्वर ने हमें एक जीभ दी और दो कान दिये। अभी यह सीधी गणित की बात है। एक साधारण गणितज्ञ भी कहेगा कि कितना बोलना चाहिए और कितना सुनना चाहिए। खैर, यह तो स्थूल गणित हुआ। जरा और गहराई से सोचिये। दो कान तो दिये। लेकिन उनको काम एक ही दिया और जिह्वा एक दी, लेकिन उसको काम दो दिये। रसना, रसग्रहण करने का काम भी दिया है और वाणी, बोलने का काम भी दिया है। तो अब हिसाब लगाइये; दो कानों को मिलकर एक ही काम और अकेली जिह्वा के दो काम! इस तरह जिह्वा में काम बढ़ गया। इसलिए चौगुना सुनना चाहिए। सुनने में भी महिमा तो वाणी की ही है। जो बोलने में महिमा है, वही सुनने में भी। तो मैं सुनता बहुत हूँ और बोलता भी बहुत

हूँ। लोग पूछते हैं कि फिर बोलते क्यों हो ! बचपन से अब तक बोलते ही चले आये हो। कोई मनुष्य मिले, उसके साथ बोलता हूँ और कोई न मिले, तो भी वाणी चलती ही रहती है। पहले खूब कण्ठ खोलकर गाता रहता था। रोज गाता था। आजकल तो मेरा गाना कम हो गया है। आजकल बोलता हूँ। लेकिन एक जमाना था, जब सुननेवाले बहुत मिलते थे। मेरे अपने ही दो कान सुनते थे। मेरा गला बड़े शौक से उन्हें सुनाता था। परिणाम यह हुआ कि सन्तों के असंख्य भजन कण्ठस्थ हो गये हैं। कितना उनका अनुग्रह हुआ है, मैं कह नहीं सकता।

इसलिए जब लोग पूछते हैं कि इतना बोलते क्यों हो, तो मैं कहता हूँ, जप के लिए बोलता हूँ, उपदेश के लिए नहीं। उपदेश के लिए आज्ञा के तौर पर श्रुति बोलती है। वह ईश्वर की वाणी है। अधिकार से आज्ञा देने का उसका अधिकार है। लेकिन मैं जप के लिए बोलता हूँ, केवल प्रचार के लिए नहीं बोलता। जनता के सामने बार-बार उसी विचार का उच्चारण करता हूँ। उसमें से आप कितना लेते हैं, आप जानें। आप लें या न लें, बार-बार जप करने से मेरा विचार दृढ़ होता है; मेरी भक्ति की दृढ़ता बढ़ती है। मनु महाराज ने एक बड़ा ही सुन्दर वाक्य लिख रखा है :

'जपेनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः।
कुर्यात् अन्यत् न वा कुर्यात्।'

ब्राह्मण याने क्या ! ब्राह्मण है मन्त्र। इसीलिए ब्राह्मण और कुछ करे या न करे, सिर्फ जप ही करे, तो उसे उसीसे सिद्धि मिलेगी। सब प्रकार की सिद्धियाँ उसे जप से ही प्राप्त होंगी। यह मनु महाराज का आशय है। यह जो मुझे भूदान-ग्रामदान मिले हैं, ये तो आप लोगों ने हासिल किये हैं। आप जगह-जगह गये, लोगों को समझाया और ग्राम दान ले आये। उसका श्रेय आपको है। लेकिन मुझे श्रेय क्यों मिल रहा है ? इसलिए कि मैंने उसका जप किया है। जब यज्ञ, दान और तप की चर्चा चली कि कहा गया—जो अपने श्रम से देगा, पेट काटकर देगा,

यह सब होगा, तो आपको अपनी बची हुई चीज में से देगा, उसका दान होगा। भूदान-यज्ञ में यज्ञ और दान तो हैं, लेकिन तप कहाँ है ? यह पूछा जाता है। मैं कहता हूँ, यह जो हजारों कार्यकर्ता सारे देश में घूमते हैं, यही तप है। कभी-कभी उनके खाने-पीने का भी इन्तजाम नहीं होता। जब निधि-मुक्ति हो गयी, तो मैं अपने कार्यकर्ताओं को त्यागराज का भजन सुनाता रहा :

'निधि सुखमा ? राम सन्निधि सुखमा ?'

(निधि में सुख है ? या राम की सन्निधि में सुख है !)

त्यागराज का भजन है। कार्यकर्ताओं से पूछा : क्या भाई, निधि चाहते हो या राम-सन्निधि चाहते हो ? इस तरह हमने ऐसी सारी युक्तियाँ ढूंढ निकालीं, जिनसे हमारा तप बढ़े और कार्यकर्ताओं को आज से कल ज्यादा तकलीफ हो, कल से परसों ज्यादा तकलीफ हो। इस तरह यह तप हो रहा है। लेकिन मैं सोचता हूँ कि मैं क्या कर रहा हूँ ! मेरा न यज्ञ है, न दान है, न तप है। मेरा तो जप ही है। मैं देखता हूँ कि जप में बहुत शक्ति भरी है। इसका दर्शन मुझे हुआ है।

लेकिन, हमारे कार्य में इस पहलू की तरफ योग्य ध्यान नहीं दिया गया है, इसलिए मैं बहुत असन्तुष्ट हूँ। हमने अपने कार्य में जान-बूझकर नहीं, लेकिन अनजान में वाणी की उपेक्षा की है, सरस्वती की उपेक्षा की है। मैं सरस्वती की उपेक्षा विचारपूर्वक कह रहा हूँ। हिन्दी में जिसे प्रचार कह रहे हैं, वह मैं नहीं चाहता। मैं प्रकाश चाहता हूँ। यह बिल्कुल ही स्वतंत्र शब्द है। अपने हिन्दुस्तान का खास शब्द है। अंग्रेजी में एक शब्द है 'प्रोपेगेंडा'। यह बिल्कुल ऊपर-ऊपर की चीज है। दूसरा शब्द है, 'पब्लिसिटी'। 'पब्लिसिटी' भी मैं नहीं चाहता। मैं प्रकाश कहता हूँ। सिख जानते हैं प्रकाश का अर्थ। उनके यहाँ वह एक विशेष विधि है। सुबह उठते हैं। अपनी सारी प्रातर्विधियाँ समाप्त करने के बाद स्नान करते हैं। फिर घर में पूजा के लिए जो एक स्थान होता है, वहाँ जाते हैं। वहाँ 'ग्रन्थ-साहब' याने गुरु-ग्रन्थ रखा होता है। उसको सहज खोलते

हैं। जो पन्ना सहज खुल जाता है, उसे पढ़कर देखते हैं कि आज मुझे क्या प्रकाश मिला। इस विधि को वे प्रकाश कहते हैं।

तो मैं प्रकाश चाहता हूँ। मैं यह नहीं चाहता कि हमारे काम की तारीफ बढ़ा-चढ़ाकर लोगों के सामने की जाय। मैं यह भी नहीं चाहता कि हमारे काम की हर छोटी-बड़ी चीज बार-बार सब तरफ बतलायी जाय। लेकिन इस कार्य के पीछे जो विचार हैं, वे बहुत ही मजबूत, गहरे और व्यापक हैं। उन विचारों का प्रकाश हम अपने व्यवहार और प्रयोगों से बढ़ायें। शुद्ध विचार लोगों को समझायें। तीन विशेषण मैंने लगाये। मजबूत, गहरे और व्यापक। मैं समझता हूँ कि अधिक-से-अधिक गहरे, व्यापक और मजबूत विचार इस वक्त हमको उपलब्ध हुए हैं। हमारे आगे जो लोग आयेंगे, उनको इससे भी अधिक मजबूत, गहरे और व्यापक विचार उपलब्ध हो सकेंगे। हमको जो विचार उपलब्ध हुए हैं, वे भी विश्व-व्यापक विचार हैं। आत्मा की गहराई तक जानेवाले विचार हैं। आज तक के तत्त्वज्ञानी और सन्त जितनी गहराई तक गये, उससे अधिक गहराई में हमको जाना होगा, तभी सर्वोदय-विचार का यथार्थ दर्शन होगा। मजबूत विचार वह है, जो कि विज्ञान, युक्ति और व्यवहार की कसौटी पर खरे ही उतरेंगे। पुराने जमाने में धर्म के नाम पर ऐसी कई बातें की गयीं, जो विज्ञान के सामने टिकती ही नहीं हैं, टूट जाती हैं। लेकिन युक्ति चाहे जितनी कैंची चलाये, विज्ञान चाहे जितनी कसौटी लगाये, तो भी 'कभी न टूटे, न फटे', ऐसी मजबूत चीज इस विचार में पड़ी है।

यह जो मजबूत, गहरा और व्यापक विचार है, उसका अध्ययन, मनन और प्रकाशन होना चाहिए। इसके लिए जरा नम्र होकर हमें साहित्यिकों के पास पहुँचना चाहिए। जो सच्चे साहित्यिक होते हैं, वे किसीके हुक्म के कायल नहीं होते। किसीका आदेश नहीं उठाते। परन्तु किसी सद्विचार की उपेक्षा भी नहीं कर सकते। जो विचार उनकी बुद्धि या हृदय स्वीकार न करे, उसे वे किसीकी आज्ञा से शिरोधार्य नहीं

मानेंगे। वह दुर्भाग्य की बात है—इन दिनों साहित्यिक और वैज्ञानिक कहलानेवाले ऐसे कई व्यक्ति समाज में हैं, जो कि 'टु आर्डर' काम करते हैं, हुक्म बजा लाते हैं। कई अखबार ऐसे हैं, जिनके मालिक दूसरे होते हैं और सम्पादक दूसरे होते हैं। सम्पादकों को मालिकों के इशारे पर चलना पड़ता है। फिर भी उनमें इतनी सत्यनिष्ठा होती है कि वे बेचारे कहते हैं कि क्या करें! इस लेख में जो विचार है, वह हमारा नहीं है। फिर भी हमें उसे बड़ी सजधज के साथ लोगों के सामने रखना पड़ा था। हमारे अखबार की जो कम्पनी है, उसके लिए लिखना पड़ा। वैज्ञानिक कहते हैं—यह जो खोजें हो रही हैं, वे दुनिया की भलाई के लिए नहीं हैं। लेकिन, फिर भी हम ये खोजें कर रहे हैं, हम बँधे हुए हैं। हमें जैसी आज्ञा होती है, वैसा करना होता है। वैज्ञानिक अगर अपनी बुद्धि को बेचना बन्द कर देंगे, साहित्यिकों के नाम से जो लोग आज दुनिया के सामने आये हैं, वे अपनी वाणी को बेचना बन्द कर देंगे, तो दुनिया का रूप बदल जायगा। स्वार्थी वैज्ञानिकों ने अपनी बुद्धि बेचकर और नकली साहित्यिकों ने अपनी वाणी बेचकर सारी दुनिया को खतरे में डाल रखा है। जो प्रामाणिक वैज्ञानिक है और स्वतन्त्र साहित्यिक है, वह आत्मज्ञानी की तरह अत्यन्त स्वाधीन होता है। वह कभी अपने को बेच नहीं सकता। दुनिया चाहे उसकी माने या न माने, इसकी वह परवाह नहीं करता। वह इस विषय में अत्यन्त सुरक्षित मनुष्य है। इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा है:

'स वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो'

जो वाग्विसर्ग — यह भागवत की भाषा है, जनता-अघविप्लव होगा, याने जो वाक्समूह जनता के पापों को धोनेवाला होगा, वही साहित्य कहलानेवाला होगा। भागवत ने साहित्य की ऐसी व्याख्या की। कितना ऊँचा आदर्श उन्होंने हमारे सामने रखा। जनता के पापों को जो शब्द धोयेगा, वही सारस्वत होगा। बाकी का सारा वाङ्मय है। उसमें सब आयेगा। वाणीमात्र वाङ्मय है। कुत्ता भूँकता है, वह भी वाङ्मय ही

है। लेकिन उसका अर्थ निकालनेवाला उपनिषद् का मन्त्रद्रष्टा ऋषि होता है, तो कुत्ते के भूँकने में से भी वह साहित्य निकालता है, सारस्वत निकालता है। साहित्य याने जीवन के सहित सतत ठहरनेवाली वस्तु। जिन्दगी का जो संबल है, वही साहित्य है। वह आपको निरन्तर अपने साथ रखने योग्य मालूम होगा। सदा के लिए आपको मिलता ही रहेगा। वही साहित्य है। जनता के पापों को धोनेवाला सरस्वती की कृपा से जो शब्द निकलेगा, वह वाग्विसर्ग सारस्वत है।

वाङ्मय में सारी वाणी आयेगी। वाणी जिसका उच्चारण करती है, वह वाङ्मय है। जैसा कि मैंने कहा, उसमें कुत्ते का भूँकना भी आयेगा। एक दफा एक कुत्ता भूँक रहा था या दस कुत्ते भूँक रहे थे। वह आवाज एक ऋषि ने सुनी। ऋषि था ध्यानी। वह सोचता—सिर्फ मैं ही ॐकार का जप नहीं कर रहा हूँ। ये कुत्ते भी ओंकार का जप कर रहे हैं—ॐ ॐ ॐ। ॐ अदाम...ॐ पिबाम ॐ हमको खाना चाहिए... ॐ हमको पीना चाहिए। ऐसा ऋषि ने उसमें से सारस्वत निकाला। यह ऋषि की खूबी है। ऐसे ऋषि को द्रष्टा कहते हैं। इसीका नाम दर्शन है। मेरे प्यारे भाइयो! हमारा यह समाज जिन विचारों पर खड़ा है, वे विचार अत्यन्त मजबूत हैं, अत्यन्त गहरे हैं और अत्यन्त व्यापक हैं। लेकिन उन विचारों का हमारा दर्शन गहरा नहीं है, व्यापक नहीं है और मजबूत नहीं है। इसीलिए सात साल के बाद भी हम रास्ता टटोल रहे हैं, ढूँढ़ रहे हैं।

हमको नम्रता के साथ साहित्यिकों के पास पहुँचना चाहिए। अपनी चीजें उनके सामने खोलकर रखनी चाहिए और कहना चाहिए कि आप तटस्थ पुरुष हैं। हमारी गलती कहाँ है, आप साफ बताइये। कहाँ हम ठीक रास्ते पर हैं, सो भी बताइये। हमें मार्ग-दर्शन दीजिये। मुझे यह कहने में खुशी होती है कि जहाँ-जहाँ मैं साहित्यिकों के पास पहुँचा हूँ, वहाँ उन सारे साहित्यिकों ने सर्वोदय का गौरव ही किया है। यही विचार दुनिया को बचानेवाला है। इसमें अमृततत्त्व है, यह कहकर उन्होंने इस

विचार का स्वागत किया है। मैसूर के पुट्टप्पा ने सर्वोदय, सर्वोदय का गीत लिखा है। वे मैसूर के बड़े कवि हैं, जो रामायण में भी सर्वोदय-विचार की झाँकी दिखाते हैं। अभी मैं कर्नाटक से आया हूँ। इसलिए यहाँ की बातें कर रहा हूँ। लेकिन मैं बंगाल, तमिलनाडु, केरल, उत्कल सभी जगह के साहित्यिकों से मिला हूँ। अभी एक जगह महाराष्ट्र के भी कुछ साहित्यिकों से मिला हूँ। मैंने देखा कि सारे-के-सारे साहित्यिकों ने कहा कि आज दुनिया को वैफल्य से बचानेवाली अगर कोई चीज है, तो वह यही सर्वोदय-विचार है। आज कितना विशाल वैफल्य छाया हुआ है! उसमें सर्वोदय ही नहीं छोटी-सी चिनगारी है। छोटी-सी ही है, लेकिन यही दुनिया को बचायेगी, ऐसा वे कहते हैं। हमारे पीछे बहुत बल है। मैं चाहूँगा कि हमारे सारे कार्यकर्ता अध्ययन की उपेक्षा न करें। इस विचार की पुस्तकें स्वयं बार-बार पढ़ें। लोगों के सामने यह चीज रखें और सरस्वती की उपासना करें।

सर्व-सेवा-संघ के प्रकाशनों में एक चीज और है, जिसकी तरफ मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। आज देश के लिए यह बहुत बड़ी आवश्यकता है कि सारे हिन्दुस्तान को एकत्र करनेवाली जितनी ताकतें हो सकती हैं, उनको हम ढूँढ़ें और देश को एक बनायें। इसकी इतनी आवश्यकता पहले कभी मालूम नहीं होती थी, जितनी कि आज मालूम हो रही है। हिन्दुस्तान को छिन्न-विच्छिन्न करनेवाली ताकतें जोर पकड़ रही हैं। वे अनेक नामों से प्रकट होती हैं। धर्म के नाम से प्रकट होती हैं। भाषा के नाम से प्रकट होती हैं। प्रान्त के नाम से प्रकट होती हैं। पंथ के नाम से प्रकट होती हैं। पक्ष के नाम से प्रकट होती हैं। विचार-सम्प्रदाय के नाम से प्रकट होती हैं। ऐसे अनेकविध नाम लेकर देश को छिन्न भिन्न करनेवाली ये ताकतें प्रकट हो रही हैं। इसलिए इस वक्त सबको जोड़नेवाली जितनी ताकतें खड़ी हो सकती हैं, उतनी जुटानी चाहिए।

एक लिपि हो

सारे देश को एक करनेवाली एक ताकत यह है कि सारे प्रान्तों के लिए सबकी बोली की तौर पर एक जबान हो और सबकी लिपि की तौर पर एक लिपि हो। इसमें दूसरी जबानों का, दूसरी लिपियों का निषेध नहीं है। वे भी चलेंगी। लेकिन एक जबान ऐसी हो, जिसे सब जानते हैं और एक लिपि ऐसी हो, जिसे सब पढ़ सकते हैं, तो सारे देश को एकत्र रखनेवाली वह बहुत बड़ी चीज होगी। विविध भावनाओं को और भाषाओं को खिलने का पूरा-पूरा अवसर मिलेगा।

फिर भी मैं यहाँ सारे देश के लिए एक जबान के बारे में [illegible] कुछ नहीं कह रहा हूँ। क्योंकि मैं उसी जबान में बोल रहा हूँ। इसलिए अब इसके बारे कुछ कहने की जरूरत नहीं। लेकिन सारी भाषाओं के लिए एक लिपि चलाने की बहुत आवश्यकता है। वह नागरी लिपि हो। ऐसा होगा, तो देश के लोग एक-दूसरे की भाषाएँ आसानी से सीख सकेंगे। इससे भाषाओं का सम्पर्क बढ़ेगा। यह काम प्रेम से ही चलता है, प्रेम के लिए ही चलता है। सर्वोदय में तो प्रेम के सिवा दूसरा रास्ता है नहीं। मेरा तो यह मानना है कि सारे देश में अगर एक नागरी लिपि चल पड़ी, तो वह लिपि सारे एशिया में चल सकती है। यह एक बहुत बड़ी आशा मुझे है। किसी पर कोई चीज लादने की कोई बात ही नहीं है। न हम देश के प्रान्तों पर, न एशिया पर और न दुनिया में दूसरी किसी जगह पर। लादने का तो नाम ही नहीं। परन्तु आशा इसलिए हुई कि मैंने जापानी भाषा का दो-तीन महीने तक कुछ अध्ययन किया। उससे जापानी भाषा की रचना का कुछ खयाल मुझे हुआ। चीनी भाषा का तो और भी कम परिचय है। लेकिन उसकी [illegible] रचना का कुछ खयाल मुझे आ गया है। इन दोनों भाषाओं की रचना हिन्दुस्तान की भाषाओं की रचना के समान है। खास करके दक्षिण की भाषाओं के समान है। वहाँ 'प्रिपोजिशन' की जगह 'पोस्ट पोजिशन' होता है। शब्दयोगी प्रत्यय पहले लगाने के बदले बाद में लगते हैं। अंकगणित के अंक भी हमारे

समान ही है। ८, ९, १० के बाद दस-एक, बीस-एक, तीस-एक ऐसे अंक आते हैं। कर्ता, कर्म, क्रियापद की जो रचना हमारे यहाँ चलती है, वैसी ही वहाँ पर है। शब्दों के उच्चारण में जैसा कि फर्क यहाँ की भाषाओं में होता है, उसी तरह वहाँ की भाषाओं में होता है। 'निहों' की जगह 'निप्पों' कहा जा सकता है। कन्नड़ में ऐसा होता है। 'ह' की जगह 'प' हो जाता है और 'प' का 'ह' हो जाता है। 'हालु', 'पालु'। अंग्रेजी में लिखने की लिपि में जो 'पी' लिखी जाती है, उसका नीचे का हिस्सा काट दें, तो आसानी से 'एच' बन जाता है। उस लिपि में 'प' और 'ह' में जो साम्य है, वह जापानी भाषा में मिलता है। मैं यहाँ उसका विस्तार करना नहीं चाहता। भाषा-शास्त्र पर मुझे व्याख्यान नहीं देना है। मैं कहना यह चाहता था कि कुछ भाषाओं के लिए लिपियाँ ही नहीं हैं और जापानी तथा चीनी भाषाओं की लिपियाँ बहुत कठिन हैं। उनकी लिपियाँ चित्र-लिपियाँ हैं। वे एक वैज्ञानिक लिपि की तलाश में हैं। उन्होंने कुछ खोज की है, लेकिन वह समाधानकारक नहीं है। शायद रोमन-लिपि भी सोची जा सकती है और सोची गयी है। मैं भी मानता हूँ कि रोमन-लिपि में कई गुण हैं। परन्तु हिन्दुस्तान के साथ चीन और जापान का सम्बन्ध बढ़नेवाला है। उन भाषाओं की रचना के साथ हमारी भाषाओं की रचना का साम्य मैं देख रहा हूँ। इसलिए हम सारे भारत के लोग यदि प्रेमपूर्वक और विवेकपूर्वक नागरी-लिपि का स्वीकार करें, तो मुझे उम्मीद है कि नागरी-लिपि के जरिये चीनी और जापानी भाषाओं के साहित्य भी अपनी भाषाओं में ला सकेंगे। वह लिपि पूर्व एशिया को एक सूत्र में बाँधने का काम देगी। लेकिन यह सब आगे की बातें हैं। वे भविष्य के हाथ में हैं। परन्तु हमको इस दिशा में कोशिश करनी चाहिए। ऐसे प्रयत्न का आरम्भ सर्व-सेवा-संघ ने किया। उसकी तरफ मैं आपका ध्यान दिला रहा हूँ।

मेरा सुझाव था कि 'गीता-प्रवचन' के जो अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं में हुए, उनका एक संस्करण नागरी-लिपि में भी हो। सर्व-सेवा-

संघ ने मेरा सुझाव पसन्द किया । तदनुसार तेलुगु, पंजाबी, उड़िया और [illegible]—[illegible] चार भाषाओं के 'गीता-प्रवचन' नागरी-लिपि में प्रकाशित हुए हैं । मराठी और हिन्दी तो नागरी में ही लिखी जाती हैं, उनका सवाल नहीं । जो भाषाएँ नागरी से भिन्न लिपि में लिखी जाती हैं, उनकी अपनी लिपियों में तो '[illegible]' छपे ही हैं । वे हजारों की तादाद में छपे हैं । [illegible] में उतनी तादाद में नहीं छपेंगे । लेकिन कुछ थोड़े से ही नागरी-लिपि में छपें, तो घर बैठे हम एक-दूसरे की भाषाओं का अध्ययन कर सकते हैं । मेरी सिफारिश है कि जो गैर पंजाबी और गैर तेलुगु लोग हैं, वे नागरी-लिपि में छपे हुए तेलुगु और पंजाबी 'गीता-प्रवचन' जरूर खरीदें । समझ न सकें, तो भी पढ़ें । [illegible] मिनट अपनी आँख उन अक्षरों पर से घुमायें । इससे मालूम होगा कि हमारी भाषाओं में कितना साम्य है । इससे परस्पर प्रेम पैदा होगा । जरा-सी मेहनत करेंगे, तो आप देखेंगे कि कम-से-कम उत्तर हिन्दुस्तान की भाषाएँ तो दो-चार पाँच दिन में ही सीख सकते हैं । नागरी-लिपि का यह उपकार होगा । तेलुगु का '[illegible]' आप देखने लगेंगे, तो आपको आश्चर्य होगा कि मराठी की अपेक्षा अधिक संस्कृत शब्द उसमें हैं । मराठी तो संस्कृत से ही पैदा हुई मानी जाती है । तेलुगु संस्कृत से पैदा हुई नहीं मानी जाती है । लेकिन मराठी की अपेक्षा तेलुगु में संस्कृत शब्द अधिक हैं । इस तरह नागरी-लिपि के आधार से दूसरी भाषाएं सीखने में आपको आसानी होगी । मैं सिफारिश करता हूँ कि कुछ किताबें अनेक भाषाओं में, परन्तु नागरी-लिपि में ही निकालें । इस प्रकार का उपक्रम [illegible] ने किया ।

पंढरपुर
३०-५-'५८

साहित्य, साहित्यकार और उनकी कसौटी

: १६ :

वेद में वर्णन है कि जीव वरुणदेव के तीन पाशों से बँधा है। वह वरुण की प्रार्थना करता है कि 'इन पाशों से मैं मुक्त होऊँ।' मैं भी आज साहित्यकारों की इस सभा में ध्वनि-प्रसारक यन्त्र के चार-चार पाशों से बँधा हूँ। इनमें से यदि एक पाश कम हो जाय (एक यन्त्र स्थिर रहता नहीं था), तो वरुण के पाश की बराबरी हो जायगी।

मैं साहित्यिकों का निरन्तर स्तुति-पाठक

पिछले सात-आठ वर्षों से अनेक भाषाओं के प्रान्तों में भूदान-यात्रा हुई। उन-उन प्रान्तों में साहित्यकारों के समक्ष चर्चा करने के अवसर मुझे प्राप्त हुए हैं। तमिलनाड कर्नाटक, बिहार, उत्कल, बंगाल, केरल, आन्ध्र, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में स्थान-स्थान पर अनेक कवि और साहित्यकार आये और मैंने अपनी बातें उन्हें सुनायीं। मुझे उनके सामने बोलने में कोई संकोच नहीं हुआ। विशेषकर साहित्यकारों के समक्ष बोलते हुए मुझे संकोच नहीं होता, क्योंकि मैं स्वयं साहित्यिक नहीं हूँ। मेरे लिए संकोच करने का कारण ही नहीं है। साहित्य की उपासना करनेवाले को 'साहित्यिक' कहा जाता है। मैं कोई साहित्य की उपासना करनेवाला आदमी नहीं, साहित्यिकों की उपासना करनेवाला व्यक्ति हूँ। इसीलिए सारे साहित्यिक मुझ पर कृपा बरसाते हैं, जैसे वह भैंस होती है न! उसे बढ़िया चारा-दाना दिया जाय, तो खूब दूध देती और प्रसन्न होती है। इसी तरह साहित्यिकों की स्तुति करनेवाला कोई मिल जाय, तो वे भी प्रसन्न हो उठते हैं। मैं तो उनका निरन्तर स्तुति-पाठक हूँ, क्योंकि जानता हूँ कि जो साहित्यिकों की कृपा प्राप्त नहीं करता, उसे 'वक्रतुण्ड

महाकाय' का सामना करना पड़ता है! 'कार्यारम्भे गजाननः'—कोई भी काम शुरू करने के पूर्व गजानन की कृपा प्राप्त करनी पड़ती है। साहित्यिक गजानन ही हैं। उनका बड़े-से-बड़ा शस्त्र सूँड है। साहित्यिकों की कृपा कार्य की सिद्धि के लिए एक श्रेष्ठ आशीर्वाद है, ऐसा ही मैं हमेशा समझता हूँ। इसीलिए मुझ पर सदा साहित्यिकों की कृपा रही है।

लक्ष्मी और सरस्वती का विरोध कैसा ?

यद्यपि मेरा जीवन कार्यव्यस्त रहा, तीव्र कार्यक्रमों में ही जीवन के अनेक वर्ष बीते, फिर भी मेरी यही वृत्ति रही है कि साहित्यिकों की कभी उपेक्षा न की जाय। मुझे १५-२० भाषाओं का उत्तमोत्तम साहित्य देखने का अवसर मिला है। इसलिए साहित्यिकों को स्वयं अपने प्रति जितनी कद्र नहीं, उतनी मुझे है। जो कला, जो शक्ति भगवान् ने उनको प्रदान की है, उसकी बहुत कद्र वे नहीं करते, क्योंकि उन्हें वह वस्तु प्राप्त ही है। मनुष्य को जो वस्तु प्राप्त नहीं होती, उसीकी वह अधिक कद्र करता है, प्राप्त वस्तु की नहीं। बहुत-से साहित्यिक लक्ष्मी का मूल्य बहुत आँकते हैं। सरस्वती की अपेक्षा भी उसे अधिक कीमत देते हैं। सरस्वती तो उनके पास होती ही है, पर लक्ष्मी नहीं होती, इसलिए वे सरस्वती की शक्ति की कम कद्र करते हों, तो इसे समझा जा सकता है। लेकिन मेरे पास तो लक्ष्मी भी नहीं है। मैं उसे माता मानता हूँ। इसलिए उसको और बड़े आदर की दृष्टि से देखता हूँ। लक्ष्मी के प्रति मन में आदर होने के कारण ही मैं सम्पत्ति का किसी भी प्रकार का स्वामित्व नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि जो सम्पत्ति का स्वामित्व मानेगा, वह लक्ष्मी को 'माता' के स्थान से नीचे उतारेगा। इसलिए उसे तो मैं मातृदेवता समझकर उसके प्रति बहुत आदर रखता हूँ। इसी तरह सरस्वती के प्रति भी मेरे मन में बहुत आदर है। सरस्वती और लक्ष्मी का विरोध किस प्रकार हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

ऋग्वेद में मैंने एक वाक्य पढ़ा था, जो एकदम मेरे गले उतर गया है :

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी निहिताधि वाचि ॥

अर्थात् जिस समाज में धीर पुरुष ध्यानपूर्वक, मननपूर्वक वाणी का उच्चारण करते हैं, वाणी को मनाते हैं, वाणी का संस्कार करते हैं और चलनी से निस्सार वस्तुएँ छानकर सत्त्वांश ग्रहण करने की तरह वाणी को छानकर सार ग्रहण करते हैं, वहाँ लक्ष्मी रहती है। आज तो लक्ष्मी का पैसे के साथ गठबन्धन कर दिया गया है, इसलिए लक्ष्मी की पहचान ही नहीं रही। आगे-पीछे पैसा कमाने के लिए अच्छी-से-अच्छी जमीन का उपयोग तम्बाकू बोने में किया जाने लगा है। एक बार आन्ध्र प्रदेश में मैं एक खेत के रास्ते से आगे बढ़ रहा था। उस खेत में किसान झारी से पानी लेकर एक-एक पौधे को सींच रहा था। मैंने उससे कहा : "आप तो एक-एक पौधे को बिलकुल मातृवात्सल्यवत् पानी पिला रहे हैं!" (जिस तरह माता वात्सल्यपूर्वक पुत्र की सेवा करती है, उसी तरह आप भी एक-एक पौधे की सेवा कर रहे हैं।) उत्तर में उसने कहा : "पुत्र की अपेक्षा भी अधिक स्नेह से मैं इन्हें सँभालता हूँ।" मैंने उससे पूछा : "क्यों भाई!" मेरा विनोद उसे बहुत भाया और उसने भी विनोद में जवाब दिया : "तम्बाकू का यह एक-एक पौधा मुझे आठ-आठ आना देता है, जब कि निज का लड़का तो देने के बदले रोज आठ-आठ आना खाता है।" सारांश, इस प्रकार लोग आज लक्ष्मी और पैसे का भेद समझते ही नहीं हैं।

दोनों को न पहचानने के दुष्परिणाम

लक्ष्मी का मतलब है—शोभा, श्री, उत्पादन और सृष्टि का ऐश्वर्य, सृष्टि की विपुलश्री, सृष्टि का निर्माण। पैसा तो कृत्रिम वस्तु है। उसकी कीमत कम-ज्यादा होती ही रहती है, क्योंकि उसकी अपनी कोई कीमत नहीं होती। इसलिए मैंने तो उसका नाम ही 'लफंगा' रखा है—

आज एक बोलता है, कल दूसरा बोलता है। उसकी कीमत आज दो सेर हो, तो कल तीन सेर, चार सेर भी हो जाती है। पैसे की वाणी में कोई मेल ही नहीं है। लेकिन ऐसे लफंगों को निभा लेना एक बात है और उसे सारे समाज का कारोबारी बना देना दूसरी बात। आज समाज की अवस्था बहुत ही भयानक हो गयी है। इसीलिए पैसा लक्ष्मी का स्थान ले बैठा है।

ठीक इसी तरह सरस्वती का भी हाल है। सरस्वती या वाणी, ब्रह्मशक्ति है। 'यावत् ब्रह्म विष्ठितं तावत् वाक्'—ब्रह्म जितना व्यापक और विशाल होता है, वाणी भी उतनी ही व्यापक है। वाणी ब्रह्म की बराबरी करती है। इसलिए 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ भी वाणी होता है। संस्कृत में 'मन्त्र' का अर्थ वाणी होता है। लेकिन इसके विपरीत आज वाणी संकुचित हो गयी है। अब तो ऐसे-ऐसे क्षुद्र [illegible] वाणी में वर्णन करते हैं कि समाज उन्नत होने के स्थान पर, गलत शब्दों के प्रयोग से, अवनत होता जाता है। शब्दों का अर्थ ऊपर उठना चाहिए, तभी समाज ऊपर उठता है। जब शब्दों का अर्थ नीचे उतरता है, तब सारा समाज पतित होता है। यह सारा सरस्वती की साधना करनेवालों के हाथ में रहा। लेकिन धीरे-धीरे पहले के सारस्वत, सरस्वती के उपासक आज पैसे के ही भक्त बन गये।

एक बार एक विद्वान् व्यक्ति से मैंने पूछा कि "[illegible] और समझदार हैं या विद्वान्?" उन्होंने जवाब दिया : "विद्वान् अधिक समझदार होते हैं।" तब मैंने उनसे पूछा कि "अगर विद्वान् अधिक समझदार होते, तो आज जो विद्वान् ही सम्पत्तिवानों के पीछे जाते दिखाई देते हैं, वे न दीखते। सम्पत्तिवान् ही विद्वानों के पीछे आते दिखाई देते। इसका कारण क्या है?" उत्तर में उन्होंने कहा : "विद्वान् समझदार हैं, इसीलिए वे सम्पत्ति की कीमत पहचानते और सम्पत्तिवानों के पीछे जाते हैं। सम्पत्तिवान् मूर्ख होते हैं, वे विद्या की कीमत नहीं समझते। इसीलिए वे विद्वानों और विद्या के पीछे नहीं जाते, इसीमें विद्या की महिमा प्रकट है।"

सारांश, इस तरह सारस्वत अपनी देवता को न पहचान सके, इसलिए बाद में वे दरबारी कवि बने और माँग के अनुसार लिखते रहे। मुझसे भी कई बार अनेक साहित्यिक पूछते कि हम जैसे साहित्यकारों से आपकी क्या माँग है ? मैं उनसे कहता कि भाई, साहित्यिकों से माँग करनेवाला मैं कौन ! मेरी कोई माँग नहीं। साहित्यिक अनन्यभाव से साहित्य की उपासना करें और सरस्वती की कीमत पहचानें, शब्द को अवनत न होने दें। इतना वे करें, तो भी इसमें भूदान-ग्रामदान की सेवा हो गयी।

शब्दों को उन्नत बनाना मुख्य कार्य

शब्द को उन्नत बनाना मुख्य काम है। शब्द की अवनति किस प्रकार होती है, इसका एक दृष्टान्त 'ब्राह्मण' शब्द ही लीजिये। कहा जाता है कि 'हमने अपने घर में एक ब्राह्मण रखा है।' यहाँ ब्राह्मण से मतलब है, रसोई बनानेवाला रसोइया। गुजरात में कई जगह इसे 'महाराज' भी कहते हैं। हमारे रविशंकर महाराज भी महाराज हैं और मैं भी महाराज! शब्द कितने अवनत हो गये हैं! उपनिषद् में एक श्लोक आता है—

'यथा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा
अतिघ्नीम् आनन्दस्य गत्वा शेते।'

अर्थात् "जनक जैसा कोई महाराजा लोक-सेवा-परायण हो और वसिष्ठ जैसे महाब्राह्मण अत्यन्त निश्चिन्त होकर परमेश्वर की गोद में सिर रखकर सोते हों और उन्हें निःस्वप्न नींद आती है अथवा बालक को भी ऐसी ही निःस्वप्न निद्रा आती है…।" ऐसा दृष्टान्त उपनिषद् में आया है। किन्तु इसे देखते हुए आज वही ब्राह्मण और महाराजा दोनों कितने नीचे गिर गये! आप गुजराती में भी ऐसे बहुत-से शब्द देखेंगे। गुजरात में जब शुरुआत में रात्रि पाठशालाएँ चालू हुईं, तो नरहरिभाई परीख ने रात्रि-पाठशाला के आचार्यों के सम्बन्ध में एक लेख लिखा, जिसका

शीर्षक था—"[illegible]ओं के आचार्यों से"। इसमें कितनी ही बातों के सम्बन्ध में एक-दो-तीन इस तरह की सूचनाएँ दी गयी थीं। एक सूचना यह भी थी कि राष्ट्रीय पाठशाला के आचार्यों को बीड़ी नहीं पीनी चाहिए। इन सब सूचनाओं को सुनकर शंकराचार्य और रामानुजाचार्य क्या सोचते होंगे! आचार्यों के लिए भी ऐसी सूचनाएँ करने का समय आ गया है! मतलब यह कि यह शब्द कितना नीचे गिर गया है! पहले तो 'बादरायणाचार्य' इस तरह आचार्य शब्द का उपयोग होता था। अब 'आचार्य' शब्द इतना नीचे गिर गया है कि उससे भी भारी शब्द की जरूरत पड़ी और उसके लिए 'प्राचार्य' शब्द निकला। याने 'प्रोफेसर' के लिए 'प्राचार्य' शब्द। इस तरह जब शब्द नीचे गिरते हैं, तब समझना चाहिए कि समाज का पतन हो रहा है। शब्द का अर्थ जब ऊपर-ऊपर उठता जाता है, तब समझना चाहिए कि समाज का उत्थान हो रहा है।

शब्द में इतनी अधिक सामर्थ्य है कि वह परमेश्वर की शक्ति है, जो मानव में प्रकट हुई है। ऐसी स्पष्ट वाणी, जो कि मानव में दिख रही है, मानवेतर प्राणी में हम नहीं देखते। मानव के लिए वाणी विशेषता है। मैं हमेशा शब्द-शक्ति की कद्र करता हूँ। मेरी साहित्यिकों से यही अपेक्षा है कि वे शब्द को नीचे न गिरने दें। शब्द नीचे न गिर जाय, इसकी सावधानी रखते हुए शब्द की सँभाल कीजिये। [illegible] दुनिया के लोग चाहे जिस तरह बरतते हों, तो भी उनके शब्द उनको उस तरह बरतने से पीछे खींच लें। उनको पतन से उबार लें, ऐसे शब्द बनाये जायँ—यही मेरी साहित्यिकों से मुख्य आशा है।

कवि वह, जिससे अरसिक भी डोल उठे!

कई बार साहित्यकार और दूसरे [illegible] से कहते हैं कि आप अरसिक हैं। आप पढ़े-लिखे नहीं हैं, इसलिए हमारी कला को नहीं समझ सकते। साहित्य, संगीत, चित्रकला की खूबी समझने के लिए आँख, कान,

कान शिक्षित होने चाहिए, ऐसा न हो, तो वे 'एप्रिशियेट' नहीं कर [illegible] नहीं कर सकते। इस तरह आज लोगों से जैसी आशा रखी जाती है, उससे बिल्कुल उलटी आशा मैं रखता हूँ। मैं कहता हूँ कि [illegible] को जो रस पिला दे, वही 'कवि' कहलाता है। कोकिल गाती है, तो सबका ध्यान एकदम खींच लेती है। वह यह अपेक्षा नहीं रखती कि मेरा गायन समझने के लिए शिक्षित कान चाहिए। सरोवर में सुन्दर कमल खिले होते हैं, वे सबका मन आकृष्ट कर लेते हैं—मनोहर मालूम होते हैं। लेकिन वे ऐसी अपेक्षा नहीं रखते कि उनका रस-ग्रहण करने के लिए लोगों की आँखें शिक्षित हों।

ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द।

सत्य का श्लोक बहरे मनुष्य के कान में भी प्रवेश कर जाता है। इसलिए यदि हम जिसे शिक्षण नहीं मिला है, ऐसे सहज अशिक्षित मनुष्य को रस-ग्रहण नहीं करा सकते, तो रस का झरना एकदम सूख गया है, ऐसा ही मैं मानता हूँ। मैं तो यह नहीं कहूँगा कि वह भाई रसिक नहीं है, बल्कि यही कहूँगा कि रस पिलाने की शक्ति साहित्यिकों में नहीं है। कवित्व कुछ त्रुटियाँ है। बिलकुल सहज रूप से जो शब्द सबको आकृष्ट कर सकता है, उसीमें अधिक-से-अधिक कला प्रकट होती है। ऐसा होने पर ही उस कला को ग्रहण करने के लिए ग्राहक से विशेष शिक्षण की जो अपेक्षा की जाती है, उसमें भी कुछ कला होती है, लेकिन यह कला स्वयं प्रत्यक्ष, स्वयं स्पष्ट नहीं है, जैसे कि चन्द्रमा। 'चन्द्रमा मनसो जातः।' चन्द्रमा मन से उत्पन्न होकर सबके मन को खींच लेता है। छोटा-सा बालक भी 'चन्दामामा' की बातें करता और आग्रह रखता है कि उन्हें मेरे पास आना चाहिए। इसलिए आकर्षण सहज होता है। पक्षियों को सूर्योदय का आकर्षण होता है। वह अत्यन्त स्वाभाविक आकर्षण है। जिस वस्तु के प्रति स्वाभाविक रूप से आकर्षण होता है, उस वस्तु में सर्वश्रेष्ठ कला प्रकट हुई है, ऐसा मेरा अभिप्राय है। यह तो मैं सहज बोल गया।

सहजता में ही कला का प्राकट्य

टॉल्स्टॉय ने एक बार शेक्सपियर पर आलोचना की थी। उसका आशय था कि 'शेक्सपियर बहुत बड़ा और महान् साहित्यकार माना जाता है, लेकिन उसमें कोई सार नहीं है।' वे स्वयं एक महान् साहित्यिक थे, ऐसा सभी मानते हैं। उन्होंने स्वयं अपने ऊपर भी टीका लिखी है कि मैंने बहुत बड़ी-बड़ी कहानियाँ लिखी हैं, किन्तु उनमें मैं कोई साहित्य नहीं देखता। लेकिन मेरी जो छोटी-छोटी कहानियाँ हैं, उन्हींमें मेरी कला प्रकट हुई है। कारण बिल्कुल छोटे-छोटे बच्चे भी उन्हें सहज रूप से समझ लेते हैं। इसलिए कहना होगा कि जिसका रस-ग्रहण सार्वजनिक और सर्व-जनलभ्य हो, जो सबके हृदय को स्पर्श कर सके, ऐसी वस्तु में ही सर्वोत्तम साहित्य प्रकट होता है। क्योंकि 'साहित्य' का अर्थ ही सहित या साथ का भाव है। जो साहित्य किन्हीं विशेष लोगों के ही साथ जाने की कल्पना करता है, सबके साथ जाने की जिसमें शक्ति नहीं होती, उसका साहित्य बना संकुचित हो गया, यही कहना चाहिए। साहित्य वही रहा ऐसा हो सकता, जिसे सभी अपने साथ रखने की इच्छा रखें। जैसे सब बालकों में मिठाई खाने की इच्छा होती है, वैसे ही साहित्य के प्रति भी सबको प्रेम न हो, तो वह साहित्य 'साहित्य' न रहेगा, 'राहित्य' बन जायगा।

कवि के लिए समग्र दर्शन अनिवार्य

मुझे भय है कि हमारा साहित्य भारत में धीरे-धीरे बहुत संकुचित होता जा रहा है। क्योंकि जो सबके लिए था, वह अब विशिष्ट जनों के लिए रह गया है। यह कोई साहित्य की प्रगति नहीं, बल्कि संकुचितता ही है, ऐसा मुझे भास होता है। टॉल्स्टॉय के इस कथन से मैं पूरी तरह सहमत नहीं कि शेक्सपियर में कोई सार नहीं है, किन्तु टॉल्स्टॉय के कथन में या जहाँ उन्होंने इस प्रकार शेक्सपियर की जो आलोचना की है, उस कथन में बहुत सार है, ऐसा मैं मानता हूँ। उनकी आलोचना में जो दृष्टि है, उसमें वे बहुत स्पष्ट हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। जिस प्रकार

का साहित्य टॉल्स्टॉय चाहते हैं, वैसा साहित्य शेक्सपियर का भी है, इसके लिए शेक्सपियर का बचाव हो सकता है क्या ? इसमें भी सार है। ऐसा होने पर भी टॉल्स्टॉय की आलोचना पर विचार करना चाहिए। आप जानते हैं कि भागवत में संस्कृत के अत्यन्त मधुर काव्य लिखे हुए हैं। वे सबके लिए अत्यन्त आकर्षक हैं। अब भागवत ही लीजिये, उसकी भाषा जरा कठिन पड़ती है, फिर भी वह बहुत मधुर है। माधुर्य में तो उसके साथ कौन स्पर्धा कर सकता है ? संस्कृत में भागवत अप्रतिम ग्रन्थ माना जाता है। सारी जनता के पाप का निवारण कर सकनेवाला वाग्-विसर्ग भगवान् को प्रिय होता है। वह भगवत्-प्रिय होता है। सारी जनता के पाप को धोनेवाला वाग्विसर्ग सर्वोत्तम काव्य माना जाता है।

ऋग्वेद में कवि की व्याख्या बहुत थोड़े में की गयी है, परन्तु उसीसे बहुत कुछ समग्र दर्शन होता है : 'ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनाम् ऋषिः विप्राणाम्।'

जैसे विप्रों में—ज्ञानियों में 'ऋषि' श्रेष्ठ कहे जाते हैं, केवल बुद्धि से विचार करनेवाले ही नहीं, किन्तु जो धर्म की रक्षा भी करते हैं, वे 'द्रष्टा' श्रेष्ठ कहे जाते हैं। विप्रों में श्रेष्ठ 'ऋषि' की तरह कवियों में श्रेष्ठ पुरुष, जो पद-प्राप्त है, वे 'पदवित्' या 'पदज्ञ' कहलाते हैं। अर्थात् जो पद, पदवी तक पहुँच गया है, वह ऊपर पहुँचकर नीचे देखता है और चारों तरफ नजर फेंकता है, उसे ही समग्र दर्शन होता है। समग्र दर्शन के बिना साहित्य निर्माण नहीं होता। वह ऊँचा चढ़ता है और वहाँ से चारों तरफ देखता है, तभी समग्र दर्शन होता है। नीचे से देखो, तो संकुचित दर्शन होगा। आँखें फाड़-फाड़कर देखने पर जितना देखते हैं, उतना ही दीखता है। इससे जरा अधिक स्पष्ट देखें, बारीक नजर से देखें, तो थोड़ा अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु जितना दिखाई देता है, उतना ही मैं देखता हूँ। किन्तु ऊपर चढ़ें और बाद में चारों तरफ देखें, तो व्यापक दर्शन होता है।

'पब्बतट्ठो व भुंमट्ठे धीरो बाले अवेक्खति।'

—भगवान् गौतम बुद्ध कह गये हैं कि वह जो पर्वतस्थ पुरुष है, वह पर्वत पर चढ़ता और फिर नीचे देखता है—भूमि पर चलनेवालों को देखता है। इसी तरह ज्ञानी कवि ऊपर उठकर सबको देखते हैं। जो कवि स्वयं विकारग्रस्त होते हैं, वे दूसरे के विकारों का अंकन नहीं कर सकते। यह एक बहुत विचित्र बात मैं बोल गया। बहुतों को लगता है कि मनुष्य के विकारों का दर्शन उसे ही होता है, जिसको उनका अनुभव होता है, पर मैं उलटा ही कहता हूँ। थर्मामीटर को अगर अपना बुखार हो, तो वह बुखार को नहीं नाप सकता, उसे अपना बुखार नहीं होता, इसीलिए वह दूसरे के बुखार को ठीक-ठीक नाप सकता है। इसी तरह जो लोग विकारों से ऊपर उठ जाते हैं, जो उदासीन होते हैं—उद्-आसीन होते हैं (साक्षी-रूप हो जाने के कारण जो अपने को अलग मानते हैं), वे उत्तम दर्शन और सम्यक् दर्शन कर सकते हैं। इसलिए मैं अपेक्षा रखता हूँ कि जिस साहित्य का अध्ययन मैंने किया है और जिसका मुझ पर असर है, वे सब साहित्यिक उत्तम हो गये हैं, उन्होंने शाश्वत, चिरन्तन साहित्य समाज को दिया है। वे अपने मन से ऊपर उठे हुए थे।

मन से ऊपर उठना भी जरूरी

जो मन के भीतर घूमा करते हैं, उनका साहित्य भले ही दूसरे अनेक सहधर्मियों को आकृष्ट कर ले। जैसे, बाणभट्ट की कादम्बरी किसी काम-विह्वल पुरुष को जरूर आकृष्ट कर सकती है (क्योंकि वह सहभावी होता है), किन्तु वह सम्पूर्ण समाज को आकृष्ट नहीं कर सकती। कोई उसका अंशविशेष ही समाज ग्रहण कर सकता है। लेकिन वाल्मीकि की रामायण सबको आकृष्ट करती है, क्योंकि वाल्मीकि स्वयं [illegible] समझनेवाला था। किन्तु स्वयं अपने सुख-दुःख से ऊपर उठा हुआ था। वाल्मीकि अपने सुख से सुखी और दूसरे के दुःख से दुःखी नहीं था। वह दूसरों के सुख से सुखी और दूसरों के दुःख से दुःखी हो सकता था। जो अपने सुख से सुखी और अपने दुःख से दुःखी होता है, जैसे कि कोई मानव,

उसे दूसरे किसीके सुख-दुःख का भान नहीं रहता। वह तो अपने स्वयं के सुख-दुःख में ही उलझा रहता है। स्वयं दुःखमग्न हो, तो सारा जगत् उसे दुःखमग्न ही दीखता है। मुझ पर ऐसी आपत्ति आ पड़ी कि अब मुझे सारा संसार शून्य लगता है। लेकिन जगत् तो पूर्ण ही है, वह शून्य नहीं है। वह जैसा कल था, वैसा ही आज है और कल भी रहेगा। लेकिन सारे जगत् को ऐसा अनुभव नहीं होता। इसलिए जिसमें विश्व के साथ होने की शक्ति नहीं होती, वह कवि नहीं बन सकता।

मृत्यु : हमारा महामित्र

कालिदास ने एक सुन्दर विलाप लिखा है, अज-विलाप। एक भाई ने मुझसे कहा कि "कितना सुन्दर विलाप है यह!" तो मैंने पूछा : "इसमें कौन-सा सौन्दर्य है, जरा बताइये तो?" उन्होंने कहा कि "वह इतना सुन्दर है कि सुनकर आँखों से एकदम आँसू बहने लगते हैं।" मैंने कहा : "मान लीजिये, कोई लड़का मर गया और उसकी माँ जो विलाप करती है, तो क्या उसमें कालिदास के विलाप से कम शक्ति होती है? उसे देखकर क्या हमारी आँखों में आँसू नहीं आते! फिर कालिदास की विशेषता क्या रही! कालिदास की विशेषता तो वह थी, जो उस माँ को नहीं सूझती। वह बेचारी तो पुत्र-वियोग के दुःख में तन्मय हो जाती है। पर कालिदास को सूझता है :

'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।'

अर्थात् मरण को जीवन की विकृति मानने से दुःख होता है। यों दुःख तो जीवन में होता ही है, फिर भी उसका आरोप मरण पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य दुःख से पीड़ित है और वह उससे मुक्त होने की कोशिश कर रहा है। लेकिन उस दुःख को मिटाने की सामर्थ्य न डॉक्टर में है, न पत्नी में, न उसके भाई में और न उसके पुत्र में है। उस दुःख से जो मुक्ति दिलानेवाला है, वह तो उसका महामित्र मृत्यु है। किन्तु मृत्यु पर दुःखदायी होने का दोष ही आरोप किया जाता

है और उसका इतना भयंकर वर्णन किया जाता है कि ऐसा लगता है, मानो चोर को छोड़कर साहूकार को ही फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

मरण कोई आपत्ति नहीं है। वह तो दुःख से मुक्त करानेवाली वस्तु है। मृत्यु के समय जो दुःख है, वह जीवन के दोषों के परिणाम-स्वरूप दुःख है। इसलिए जीवन को उसके दुःखों से छुड़ाने की सामर्थ्य मृत्यु को छोड़ और किसीमें नहीं है। संत्रस्त जीव को मृत्यु ऐसी स्थित-प्रज्ञ-स्थिति में पहुँचा देता है कि बाद में उसे न सुख होता है और न दुःख। आश्चर्य है कि ऐसे महामित्र को भी शत्रु समझा जाता है! जब मृत्यु आती है, तो हम स्थितप्रज्ञ बन जाते हैं या नहीं, इसका हम प्रयोग कर देखते हैं। एक प्रयोग तो यह है कि उस मृत मनुष्य को नहलाते हैं और फिर देखते हैं कि वह देह संतुष्ट होती है या नहीं! खुश होती है या नहीं! लेकिन देह को कोई सन्तोष नहीं होता दीखता, इसलिए हम समझ जाते हैं कि वह स्थितप्रज्ञ हो गया। इस तरह वह अपने सुख से सुखी नहीं होता, यह तो हमने देख लिया। लेकिन वह अपने दुःख से दुःखी होता है या नहीं, यह देखने के लिए हम दूसरा प्रयोग करते हैं। हम उसका अग्नि-संस्कार करते हैं और देखते हैं कि अग्नि के स्पर्श से वह दुःखी तो नहीं होता? इससे उसके सिर पर शिकन तक नहीं देखी जाती। तब सिद्ध होता है कि वह परिपूर्ण स्थितप्रज्ञ हो गया। पक्का निश्चय हो जाता है कि बिना पुण्य के ही इसे मृत्यु ने 'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' की स्थिति में पहुँचा दिया। ऐसी परम स्थिति प्राप्त करानेवाले महामित्र को भी हम शत्रु कहें, तो क्या यह उचित है?

इसीलिए कालिदास ने अज विलाप में 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' यह जो निष्कर्ष निकाला, वह कोई दुःखी या वियोगी जीव के विलाप जैसा नहीं है। यहीं कालिदास का महत्त्व है! इसीलिए मुझे ऐसा लगता है कि साहित्य शक्ति, शब्द-शक्ति मनुष्य तभी प्रकट कर सकता है, जब कि वह सामान्य मन से ऊपर उठकर जनता के मानस की तरफ देखे!

अपने सुख में सुखी होने की और अपने दुःख में दुःखी होने की तन्मयता कवि की हो, तो वह कवि नहीं बन सकता। जो अपने दुःख में तन्मय होता है, वह तो अमुक लोगों को ही आकृष्ट कर सकता है, सब लोगों को नहीं। उसमें वह शक्ति प्रकट नहीं हो सकती। इसलिए आप लोगों के सामने मैं अपना विचार रखना चाहता हूँ कि साहित्यिक के रूप में अपना जीवन जितना तटस्थ और अनासक्त बना सकें, उतना बनाइये और फिर लोकविमुख न बनिये।

लोक-विमुखता भी खतरनाक

तटस्थता और अनासक्ति पाने के बाद लोकविमुख बनेंगे, तो वह एक नया खतरा होगा। जैसे कोई जीव अपने सुख-दुःख में तन्मय हो जाता है, तो उसमें खतरा है, वैसे ही इस प्रकार जो जीव सुख-दुःख से परे होकर लोकविमुख हो जाता है, उसमें भी खतरा है। संभव है कि वह लोकविमुख हो जाय, तो वह इतना ऊपर उठ सकता है, जहाँ उसकी शब्द-शक्ति भी कुंठित हो जाय। ऐसी हालत में वह एक भी शब्द का उच्चारण किये बिना 'महाकवि' हो सकता है, ऐसा भी मैं मान लेता हूँ। लेकिन वह अव्यक्त हो जाता है और समाज को अव्यक्त का स्पर्श तो होता है, किन्तु उसका ज्ञान समाज या और किसीको भी नहीं होता। लेकिन लोगों को जिसका भान है, उसे ही हम 'साहित्यिक' कहते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि जो अपने सुख-दुःख से ऊपर है, मन से ऊपर है, विकारों से ऊपर है और लोकविमुख न होकर अपने को साक्षीरूप में देखता है और उसे फिर साहित्य-प्रेरणा होती है, तो मैं उसे उत्तम साहित्यिक समझता हूँ और उसके साहित्य को भी मैं उत्तम साहित्य मानता हूँ।

सर्वोदय-विचार : भारत का तुरीय दर्शन

ऐसी स्थिति में भूदान-ग्रामदान आदि जो कुछ चलता है, उसमें आप क्या मदद करें, यह मैं आपको सुझाऊँ, तो वह मेरे अधिकार से बाहर की बात होगी। वह मैं नहीं करूँगा। लेकिन मैं आपसे इतना ही कहना

चाहता हूँ कि इस जमाने में इधर के सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हमारे देश में जो कल्पनाएँ सूझीं, उन विशेष कल्पनाओं में ग्रामदान की कल्पना भी आती है। मैंने अनेक बार कहा है और आज विस्तार से न कहकर इतना ही कहूंगा कि सभी उपासनाओं का अनुभव समान होता है, यह महान् वस्तु हमारे देश में रामकृष्ण परमहंस ने साधना द्वारा दुनिया के सामने रखी है। इसी तरह मन से ऊपर उठकर, परमेश्वर तक पहुँचकर, उसका अनुभव लेकर फिर विश्व-सेवा के लिए जनता के बीच काम करने की एक भूमिका ([illegible]) की तरफ सबका ध्यान श्री अरविन्द ने खींचा है। हमारे देश के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी। इसके पहले इसका दर्शन हमारे देश में और दूसरे भी देशों में बहुतों को हुआ है। किन्तु इस ओर विशेष रूप से श्री अरविन्द ने ध्यान खींचा। इसी प्रकार दुनिया के क्लेशों को मिटाने के लिए शस्त्र-शक्ति नहीं, बल्कि सत्याग्रह-शक्ति ही इस विज्ञान के युग में काम करेगी, इसका दर्शन महात्मा गांधीजी ने दुनिया को कराया। ये तीन विशेष दर्शन नव-भारत में प्रकट हुए। अतः मैं नम्रतापूर्वक आपसे कहना चाहता हूं कि ऐसा ही यह एक चौथा दर्शन भारत में 'सर्वोदय' शब्द की उपासना से निर्माण हुआ है कि जैसे हवा और पानी सार्वजनिक है, वैसे ही भूमि, लक्ष्मी, विचार और शक्ति सार्वजनिक होने चाहिए। जो वस्तुएं सबके उपयोग के लिए हैं, वह सर्व समर्पण होनी चाहिए—आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र की यह एक क्रान्तिकारी वस्तु हिन्दुस्तान में प्रकट हुई है और वह सर्वोदय शब्द की उपासना में से प्राप्त हुई है। यही चौथी वस्तु है। वह नम्रतापूर्वक आपके सामने रखना चाहता हूँ। इस तरह यह जो विशेष वस्तु प्रकट हुई है, उसका चिन्तन-मनन कीजिये तथा उसके साथ सहज रूप से जितने समरस हो सकें, उतने होइये। इस प्रार्थना के साथ मैं अपना कथन समाप्त करना चाहता हूँ।

गुजरात से माधुरी की अपेक्षा

जब से गुजरात में प्रवेश हुआ है, तब से गुजरात के चेहरों पर कुछ

विशेषता देख रहा हूँ। वह विशेषता वे स्वयं नहीं देख पाते, क्योंकि वे अपने द्रष्टा नहीं हो सकते, फिर भी मैं देखता हूँ और मुझे भास होता है कि भारत के इस कोने में से—इस गुजरात में से—विश्व को कुछ मिलने-वाला है। यदि ऐसा न होता, तो गांधीजी गुजरात में पैदा ही न हुए होते। गांधीजी का गुजरात में पैदा होना आकस्मिक नहीं है। गुजरात में ऐसी शुद्ध शक्ति पड़ी है, जिसका यह स्वाभाविक स्फुरण था। उनके बाद आप चाहे जैसे रहिये, तो भी हमारे समाज को गांधीजी ने जो व्यापक दर्शन कराया है, वह गुजरात में विशेष रूप से काम कर रहा है। गुजरात के सब हृदयों में यह वस्तु रही है और यहाँ मुझे स्वयं को भी ऐसा भास होने लगा है। इसलिए गुजरात के साहित्यिकों से मैं विशेष अपेक्षा रखता हूँ कि गुजराती भाषा में भगवान् कृष्ण ने अपने संगीत द्वारा जो माधुर्य पैदा किया था, उसे 'गुजराती' भाषा में प्रकट कीजिये। जैसे वल्लभाचार्य ने गाया था कि **'मधुरं हसितम्....'**। गुजराती भाषा में ऐसा एक भी शब्द नहीं आना चाहिए, जिसमें माधुर्य की न्यूनता हो। जब माधुर्य 'परम माधुर्य' होता है, तब वह शक्ति का दर्शन कराता है। ऐसा सत्य का दर्शन करानेवाला गुजरात में वाङ्मय में प्रकट हो, ऐसी विशेष आशा गुजरात से है।

बड़ौदा

२९-१०-'५८

साहित्य का धर्म

मैं शब्दों में बयान नहीं कर सकता कि आप लोगों के दर्शनों से मुझे कितना हर्ष हो रहा है। वैसे तो मेरे लिए सारी दुनिया [illegible] है। सबको नमस्कार करना ही मैंने अपना धर्म माना है और [illegible] से आठ साल से लगातार घूम रहा हूँ, लेकिन आप मेरे लिए विशेष आदर और नमस्कार के भाजन हैं। बहुत खुशी की बात है कि आपसे मिलने का सौभाग्य मुझे हासिल हो रहा है।

मैं साहित्यिक को द्रष्टा समझता और मार्गदर्शक मानता हूँ। ऋग्वेद में वर्णन आया है : 'शिक्षा पथस्य गातुवित्' मार्ग जाननेवाले, मार्ग ढूँढनेवाले और मार्ग दिखानेवाले ऐसे तीन प्रकार के लोग होते हैं। साहित्यिकों की गिनती इस त्रिविध वर्ग में होती है। कुछ मार्ग ढूँढनेवाले हैं, जो बहुत ही ऊंची कोटि के होते हैं। कुछ मार्ग जाननेवाले हैं, जो दूसरे दर्जे की पदवी प्राप्त करते हैं और कुछ मार्ग दिखानेवाले हैं, जिनको तीसरे दर्जे की पदवी प्राप्त है। ये तीनों पदवियाँ जैसे हिमालय के ऊँचे-से-ऊँचे शिखर होते हैं, वैसी ही कुछ कम बेशी होती हैं। सबसे अधिक योग्यता मैं उनकी मानता हूँ, जो मार्ग ढूँढनेवाले होते हैं, नये मार्ग खोजते हैं। बहुत हिम्मत से आगे बढ़ते जाते हैं। दुनिया की मार खाते रहते हैं, लेकिन आखिर तक मार्ग ढूंढ़ने का अपना काम नहीं छोड़ते। दूसरे दर्जे के वे होते हैं, जो नये मार्ग की खोज नहीं करते, बल्कि जो पुराना मार्ग बन चुका है और काफी सुरक्षित है, लेकिन लोग उसे नहीं जानते और बीहड़ जंगलों में भटकते रहते हैं, उसे जानते हैं। तीसरी पदवी उनको प्राप्त है, जिनको यह प्रेरणा हुई है कि लोगों को मार्ग बतायें। चाहे वह मार्ग सबसे ऊंचा न हो, लेकिन आज लोग भटकते रहते हैं, इसलिए उन्हें अच्छे मार्ग पर लायें, उन्हें मार्ग बतायें। मुझे रा

प्रदेश में ऐसे त्रिविध साहित्यिकों का मार्ग-दर्शन प्राप्त करने का भाग्य हासिल हुआ है। फिर भी अब तक मुझे एक-एक भाषा के साहित्यिकों से ही मिलने का मौका मिला था। लेकिन यहाँ अनेक भाषाओं के साहित्यिक इकट्ठा हुए हैं, तो आपने बड़ी कृपा की, ऐसा मुझे नम्रता-पूर्वक कहना चाहिए।

मेरे सामने जो समस्याएँ हैं, मैं उन्हें आपके सामने रखूँगा। अभी यहाँ मैं मीरा का भजन सुन रहा था, जिसमें कहा गया है कि उसकी परमात्मा में लगन है और हरि-गुण गाने के सिवा और कोई बात उसे सूझती ही नहीं। भजन सुनते-सुनते मैं अपने लिए सोचने लगा कि जो नसीब मीरा को हासिल था, वही भगवत्-कृपा से मुझे भी हासिल है। मेरी यात्रा चल रही है। उसके साथ ही भूदान, ग्रामदान आदि शब्द चल पड़े हैं। ये शब्द 'करेण्ट क्वायन' बन गये हैं। लेकिन मेरे मन में सिवा इसके कि मैं भगवान् का गुणगान करने की चेष्टा करता रहूँ, उसकी सेवा में लगा रहूँ, और कोई बात नहीं है। एक यही विचार मेरे मन में है। भगवान् मेरे लिए अव्यक्त नहीं रहे, व्यक्त हो गये हैं; बल्कि मामूली व्यक्त पदार्थ से ज्यादा व्यक्त हो गये हैं। वे मुझे हिलाते हैं, डुलाते हैं। कल तो मैं ऐसा गिर पड़ा था कि सब ताज्जुब ही करते रहे कि इसका सिर क्यों नहीं फूटा! मैं ऐसे ढंग से गिरा कि सिर फूटना ही चाहिए था। सिर फूटता, तो अवश्य ही भगवान् का आशीर्वाद समझता। लेकिन सिर नहीं फूटा और आज आपकी सेवा में उपस्थित हूँ—यह भी भगवान् की लीला और कृपा समझता हूँ।

दुनिया में आज तक जो ताकतें काम करती थीं, उनमें से कई ताकतें अब क्षीण हो रही हैं। कुछ नयी ताकतें जोर पकड़ रही हैं, कुछ पुरानी भी अपना बल दिखानेवाली हैं। मेरे निरीक्षण के अनुसार जो ताकतें टूट रही हैं, वे बहुत बड़ी ताकतें थीं। आज भी कुछ हद तक वे मिटी हैं, ऐसा नहीं कह सकते। लेकिन वे खतम होनेवाली हैं, टिकनेवाली नहीं हैं। उनकी जिन्दगी समाप्त हो गयी है।

उनमें एक ताकत है, मजहब की। इन मजहबों ने बहुत बड़ा काम किया है—मनुष्य के अन्तःस्रोत ढूँढने की कोशिश की है। उन अन्तःस्रोतों में एकवाक्यता, सामञ्जस्य लाने और मनुष्यमात्र को इकट्ठा करने की कोशिश की है। मनुष्य को कुछ हद तक इकट्ठा करने में आज तक वे समर्थ भी हुई हैं। लेकिन जहाँ उन्होंने मनुष्यों को इकट्ठा कर लिया, वहीं उन्हें तोड़ा भी है। अब तो वे फिरके, पंथ बन गये और संकुचित हो गये हैं—बहते हुए चश्मे नहीं रहे। वे स्थिर हो गये हैं और जहाँ वे स्थिर हो गये, वहाँ मनुष्यों को इकट्ठा करने का उनका कार्य समाप्त हो गया। इसका अर्थ इतना ही मानना होगा कि उन्होंने जो किया, उसका हम उपकार मानते हैं। हम उनके कृतज्ञ हैं। लेकिन आगे विज्ञान बढ़ रहा है, इसलिए उनका उपयोग खतम है।

जैसे मजहब आन्तरिक क्षेत्र में काम करता है, वैसे ही बाहरी क्षेत्र में काम करनेवाली ताकत है सियासत। उच्छृङ्खल या बिखरे हुए, परस्पर विरोध करनेवाले और असन्तोष पैदा करनेवाले मानव को जोड़ने का काम कुछ हद तक सियासत ने जरूर किया है, इसलिए हम उसके कृतज्ञ हैं। बाहरी क्षेत्र में ही क्यों न हो, लेकिन यह कबूल करना होगा कि सियासत ने बिखरे हुए मानव को एक करने में मदद पहुँचायी है। लेकिन अब इसके आगे शायद विज्ञान जो माँगें पेश कर रहा है, उन्हें पूरा करने की शक्ति सियासत में नहीं है। सियासत पुरानी पड़ गयी है। इसलिए जहाँ उसने चन्द मानवों को एक कर लिया, वहीं दूसरे मानवों को अलग भी कर दिया। जहाँ उसने कुछ लोगों को जोड़ा, वहीं दूसरों को तोड़ा-फोड़ा भी है।

मजहब के लिए इतना कहा जा सकता है कि अब वह [illegible] नहीं रहा, इसलिए अब तोड़ने का काम ज्यादा नहीं करेगा। जोड़ने का काम जितना उससे बना, उतना उसने किया। इससे ज्यादा करने की ताकत उसमें नहीं रही। लेकिन सियासत आज तोड़ने-फोड़ने का काम कर रही है। सियासत ने नेशनलिज्म या राष्ट्रवाद के नाम पर जहाँ कुछ

लोगों को जोड़ा, वहाँ कुछ लोगों को तोड़ा भी। एक-एक देश में अलग-अलग प्रकार की सियासत हुआ करती है। एक देश में भी वह एक को दूसरे से अलग करती है, देश के टुकड़े करती है। मनुष्यों को जोड़ने की शक्ति वह नहीं रखती, क्योंकि वह अविश्वास पैदा करती है। एक जमाने में अविश्वास, संशय बढ़ाने में भी शक्ति थी। लेकिन अब जो जमाना आया है, उसमें अविश्वास और संशय में शक्ति नहीं रही। जैसे कि भगवान् ने कहा है, 'संशयात्मा विनश्यति', आज संशय से विनाश का ही रास्ता पकड़ना पड़ता है। हमारे यहाँ संशय की भी बड़ी कीमत रही। न्यायशास्त्र में, हिन्दुस्तान के लॉजिक में संशय भी ज्ञान-प्राप्ति का बहुत बड़ा साधन माना गया है। इस तरह जैसे ज्ञान-प्राप्ति-प्रक्रिया में संशय का बहुत बड़ा स्थान माना गया, वैसे ही सियासत में संशय का बहुत बड़ा स्थान माना गया, जो आज तक कायम है और वह विश्वास नहीं पैदा करने देता। उस संशय के साथ बुद्धि का आभास होता था। अगर हम संशयवाद नहीं रखते, तो कुछ बुद्धि की न्यूनता-सी मालूम होती है। इसीलिए राउण्ड टेबल के आमने-सामने बैठे हुए भी एकत्र नहीं हो पाते। लेकिन जाहिर है कि आज विज्ञान की वजह से तोड़नेवाली चीजें ही जोड़नेवाली बन गयी हैं। जिस प्रशान्त महासागर ने अमेरिका और जापान को दो सिरों पर अलग कर दिया था—एक को 'सुदूरपूर्व' और दूसरे को 'सुदूर पश्चिम' कहा जाता था, उसी समुद्र ने अब दोनों को जोड़ा है, पड़ोसी बना दिया है। इस तरह जो जड़ पदार्थ तोड़नेवाले थे, वे भी आज विज्ञान की वजह से जोड़नेवाले बन गये हैं। अब पृथ्वी से दूर चन्द्रमा भी पृथ्वी के साथ जुड़ रहा है। अब कुत्ते भी, जो कभी ऊँची उड़ान की कल्पना नहीं कर सकते थे, आज ऊँचे आसमान में उड़ रहे हैं। इसलिए स्पष्ट है कि इस जमाने में मनुष्य-मनुष्य के बीच संशय की दीवार खड़ी करनेवाली सियासत काम की नहीं रही।

इस तरह मजहब और सियासत, ये दो शक्तियाँ खतम हो चुकी हैं; उनके दिन लद चुके हैं! थोड़ी-सी दूर-दृष्टि हो, तो मालूम हो जायगा

कि आगे कौनसी शक्तियाँ काम करनेवाली हैं। अब दो शक्तियाँ काम करनेवाली हैं, जो इसके पहले भी कुछ तो काम करती ही थीं। इन दो शक्तियों में एक है विज्ञान और दूसरी रूहानियत। विज्ञान तो जब से मानव पैदा हुआ, तभी से था। जब अग्नि की खोज हुई, तो ऋषियों को कितना आनन्द हुआ, इसका वर्णन ऋग्वेद में हम देखते हैं। उन्हें लगा कि परमेश्वर ही हमारे हाथ में आ गया। वैसे तो देवता हमें पैदा करते हैं, लेकिन इस देवता को तो हम पैदा करते हैं। इस तरह अग्नि के बारे में ऋग्वेद में बहुत उत्साह और भक्ति दीखती है। जब अग्नि की खोज हुई, तो जीवन में बहुत फर्क पड़ा। उसके बाद और भी कई खोज हुए, ईजादें हुईं। अब तो मनुष्य को आणविक शक्ति की भी पहचान हो गयी है और विज्ञान दिन-ब-दिन तरक्की कर रहा है।

जब मैं जेल में था (सन् १९४२ से १९४५ तक लगातार तीन साल, इससे पहले भी व्यक्तिगत सत्याग्रह के दिनों में भी साल-सवा साल रहा), तो मैं चिन्तन करता रहा। मेरे ध्यान में बार-बार यह आता कि हमें अहिंसा की जो सिखावन दी जा रही है, कई कारणों से वह हमारे लिए लाभदायी है। यह सही है कि हमारी सभ्यता में वह चीज पड़ी है। लेकिन इसके आगे अहिंसा अनिवार्य है, क्योंकि विज्ञान का जमाना आ रहा है। अहिंसा के साथ विज्ञान का विवाह हो जाय, तो उससे दुनिया में मंगलमय जीवन पैदा हो सकता है, जमीन पर स्वर्ग उतर सकता है। लेकिन विज्ञान का विवाह हिंसा के साथ हुआ, तो मानव और मानवता, इन्सान और इन्सानियत—दोनों मिटनेवाले हैं। इसलिए बहुत जरूरी है कि विज्ञान के साथ ऐसी शक्ति जुड़ जाय, जिससे उसे उचित मार्ग-दर्शन मिले। विज्ञान से रफ्तार, गति बढ़ती है। जहाँ रफ्तार बढ़ती है, वह रास्ता ठीक मिला, तो शीघ्रातिशीघ्र परम कल्याण प्राप्त हो सकता है। रास्ता गलत मिला, तो उतनी ही शीघ्रता से विनाश भी हो सकता है। विकास या विनाश, दोनों शीघ्रातिशीघ्र हो सकते हैं, जो सही या गलत रास्तों पर निर्भर हैं। इसके आगे विज्ञान बहुत जोरों से विकसित होनेवाला

है। अब तक वह धीरे-धीरे विकसित होता था, लेकिन अब जोरों से छलाँग मारकर आगे बढ़नेवाला है। इसलिए उसके साथ जुड़नेवाली, उसे मार्ग-दर्शन करानेवाली कोई शक्ति होनी चाहिए। वह है, रूहानियत।

पुराने जमाने में भी रूहानियत थी। लेकिन मजहबों का उस पर परदा पड़ा था। मजहबों ने माना था कि वे रूहानियत के ठेकेदार हैं। मानवीय जीवन का बाहरी नियन्त्रण सियासत करती थी। आज सियासत जिस नग्न रूप में खड़ी है, वैसी पहले नहीं थी। इस तरह सियासत का बाहरी आवरण था और रूहानियत को मजहबों ने बहुत अच्छी तरह ढाँक लिया था। मजहब और रूहानियत एक ही चीज हैं, ऐसा आभास होता था। वैसा भास सियासत के लिए नहीं होता था। लेकिन मजहबों ने रूहानियत को इस तरह ढाँक लिया था कि लोगों ने यह मान लिया कि मजहब और रूहानियत एक ही चीज हैं। नहीं तो जिन लोगों ने यह माना कि शत्रु पर भी प्यार करो, उन्होंने बहुत ज्यादा शस्त्रास्त्र बढ़ाये। वे ढोंगी नहीं, बल्कि आत्मवंचक कहे जा सकते हैं। उन्होंने माना कि आज का समाज अपरिपक्व है। इसलिए सियासत और समाजशास्त्र की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ बनीं। रूहानियत पर श्रद्धा और सियासतदाँ के कारनामे, इन दोनों में जो स्पष्ट विसंवाद था, उसे लोगों ने विसंवाद के रूप में नहीं देखा। उसे विसंवाद या भेद नहीं माना, बल्कि साध्य-साधन विवेक माना। साधन टेढ़े हों, तो भी चल सकता है, ऐसा माना गया। इसका मुझे कश्मीर में पीरपंचाल चढ़ते समय अनुभव आया। वहाँ हम बिलकुल सीधे रास्ते से नहीं जा सकते थे, कुछ टेढ़ा रास्ता लेना पड़ता था। यह जो चढ़ने की भौतिक मिसाल है, उसे लोगों ने अध्यात्म में भी लागू किया। जैसे इंजीनियर लम्बी राह बनाता है, वैसे सियासत और समाजशास्त्र ने टेढ़ी राह की बात रखी। उसे लोगों ने विसंवाद नहीं माना।

लेकिन आज विज्ञान सर्वंकष हो गया है। मनुष्य के हाथ में भगवत्-शक्ति आ गयी है। भगवान् का वर्णन करते हुए कहा जाता है कि

उसमें उत्पत्ति, स्थिति, संहार की शक्ति है। यह शक्ति आज मनुष्य के हाथ में आ गयी है। लाशों का उपयोग मनुष्यों का संजीवन करने में होता है। लाश की आँख जिंदा मनुष्य की खराब आँख की जगह जोड़ी जा सकती है। लाश के पाँव [illegible] के खराब पाँवों की जगह जोड़े जा सकते हैं। आगे चलकर लाश के फेफड़े भी इस तरह जोड़े जायँगे। यह करीब-करीब उत्पत्ति की शक्ति है। जिसे हम 'संजीवनी शक्ति' कह सकते हैं, वह शक्ति करीब-करीब मनुष्य के हाथ में आ गयी है। अब थोड़ी-सी बाकी है। लेकिन मेरा विश्वास है कि उतनी भी उसके हाथ आ जायगी। यह कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो मनुष्य के हाथ में न आ सके। फिर संहार की शक्ति उसके हाथ में आयी है, यह तो हम सभी जानते हैं। अणु में संहार की शक्ति है, वैसे पालन की भी शक्ति है। इस तरह वह उत्पत्ति, स्थिति संहार का लक्षण मनुष्य प्रकट कर रहा है। वहाँ पुरानी सियासत और पुराने मजहब खतम होनेवाले हैं और सीधी रूहानियत आनेवाली है। उसके टेढ़े-मेढ़े रास्ते नहीं रहनेवाले हैं। [illegible] का भेद खतम हो जायगा। इतना ही नहीं, बल्कि आगे जाकर मनुष्य और प्राणियों का भेद भी खतम होगा। इसलिए इसके आगे विज्ञान और रूहानियत—ये दो ही ताकतें मनुष्य के जीवन को आकार देने में समर्थ होंगी, ऐसा मुझे दर्शन हो रहा है।

इनमें एक है बाह्य शक्ति और दूसरी आन्तरिक शक्ति। इन दोनों को जोड़नेवाली कौन-सी चीज हो सकती है, इस पर जब मैं सोचता हूँ, तो मुझे तुलसीदास का वचन याद आता है। उन्होंने दूसरे अर्थ में उसका उपयोग किया था, पर मैं भिन्न अर्थ में कर रहा हूँ। वह है :

> 'रामनाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
> तुलसी भीतर बाहरहूँ, जो चाहसि उजियार॥'

याने अगर तू भीतर और बाहर, दोनों तरफ [illegible] है, तो जिह्वा पर राम-नाम का मणि-दीप रख। रामानुज ने कहा था कि साहित्य में जितने शब्द हैं, उन सबको एक 'ब्रैकेट' में रखकर लिखना चाहिए :

भगवान्। हर शब्द के दो अर्थ होते हैं। जैसे यहाँ घड़ी है, तो उसका एक अर्थ है घड़ी और दूसरा अर्थ है, भगवान्। लाउडस्पीकर का एक अर्थ है, लाउडस्पीकर और दूसरा अर्थ है, भगवान्। कुल शब्दों का अर्थ भगवान् होता है। इस तरह हर शब्द भगवत्-गत होता है। यह रामानुज का विशेष आविष्कार है, जिस पर उन्होंने बहुत जोर दिया है। उन्होंने अपने कुल-के-कुल सिद्धान्त इस बात पर खड़े किये हैं कि श्रुति में आये हुए शब्दों के बाहरी अर्थ जो कुछ भी हों, किन्तु आन्तरिक अर्थ एक ही है, भगवान्। तुलसीदास ने भी इस दोहे में इसी तरह राम-नाम की बात कही है। वहाँ राम-नाम का अर्थ मैं साहित्य लेता हूँ। मुझमें यह श्रद्धा है कि इससे आगे रूहानियत और विज्ञान को जोड़नेवाली कड़ी साहित्य होगी। यह तीसरी शक्ति है।

इस तरह रूहानियत, विज्ञान और साहित्य, ये तीन शक्तियाँ ही अब काम करेंगी। लोगों को आकार देनेवाली ये ही तीन शक्तियाँ होंगी। अब तक मनुष्य-जीवन को आकार देनेवाली शक्तियों को अब हटना होगा, बाज आना होगा। इन तीनों में एक बाहरी शक्ति है, दूसरी अन्तःशक्ति है और आप (साहित्यिक) बीच की शक्ति हैं, जो दोनों को जोड़ेगी, दोनों से काम लेगी। इससे आपके ध्यान में आ जायगा कि आपको मैं कितनी अहमियत देता हूँ। आपके सामने बहुत बड़ा कार्य उपस्थित है। इसलिए जो समस्याएँ मेरे मन में हैं, उन्हें मैं आपके सामने पेश करता हूँ और चाहता हूँ कि आप उन पर चिंतन करें और इसके आगे दुनिया में जो काम करना है, उसके लिए अपनी शक्ति सुरक्षित रखें। आपके पास जो शक्ति है, उसका उपयोग अनेक प्रकार से हो सकता है। लेकिन आप उसका उपयोग उनमें न करें और जो महान् कार्य आपको करना है, उसीके लिए सुरक्षित रखें, तो भविष्य में आपके सामने जो काम आनेवाला है, उसे आपने पहचान लिया, ऐसा कहा जायगा।

मेरे सामने जो समस्याएँ हैं, उन्हें मैं थोड़े में रखता हूँ। पहली बात यह है कि सियासत, मजहब और समाजशास्त्र ने नैतिक मूल्यों के नाम पर

कुछ तर-तम-भाव (तारतम्य) छोड़ दिया है। जिन नैतिक मूल्यों की कीमत कम थी, उनकी कीमत बढ़ा दी है और जिनकी ज्यादा थी, उनकी कम कर दी गयी है। इसके कारण समाज का कुछ ढाँचा ही बिगड़ गया है। मैं आपके सामने 'लाउड थिंकिंग' (प्रकट चिन्तन) के तौर पर यह रख रहा हूँ। इस पर आप जैसा उचित समझें, सोचिये और मार्ग-दर्शन कीजिये। 'साहित्य के धर्म' में, जिस विषय पर आप चर्चा करनेवाले हैं, यह चीज आती है। मुझे लगता है कि नैतिक मूल्यों में सत्य से बढ़कर कोई मूल्य नहीं होना चाहिए और नहीं हो सकता। बाकी नीतिमत्ता और सदाचार के जो मूल्य हैं, वे दोयम दर्जे के हैं। मैं इसे जरा और स्पष्ट करूँगा। आज कुछ लोगों ने कुछ अनीतियों और बुराइयों को बहुत बड़ी बुराई माना है और इसलिए मानव उन्हें छिपाने की कोशिश करता है। लेकिन छिपाना सबसे बड़ी बुराई है। हमारे हाथ से कुछ बुराई होती है, व्यभिचार होता है, तो हम उसे छिपा लेते हैं। निःसन्देह व्यभिचार दुनिया में बुरी चीज मानी गयी है और वह बुरी है भी, लेकिन उसे छिपाना उस बुराई से भी बदतर है। लेकिन आज की लोक-रूढ़ि यही है कि वह सत्य से ज्यादा कीमत इस प्रकार के संयम को देती है और ऐसे असंयम को असत्य से ज्यादा बुरा मानती है। परिणाम यह होता है कि लोग बुराइयों को छिपाते हैं।

मान लीजिये, मेरे पेट में बीमारी है तो मैं उसका इलाज करता हूँ। वैसे तो मुझे बीमारी से शर्मिन्दा होना चाहिए। लेकिन मैं उसे छिपाता नहीं, क्योंकि वह सुनकर आपके मन में मेरे प्रति घृणा नहीं, दया ही पैदा होती है। हालाँकि आप यही मानते हैं कि इसने कुछ गलत काम किया, इसीलिए इसे यह बीमारी हुई। फिर भी आप उसे रोग तो मानते ही हैं, इसलिए मैं उसका इलाज करता हूँ। फलस्वरूप मुझे वह रोग दूर करने के लिए लोगों की सलाह और मदद मिलती है। लेकिन दुराचार को मैं प्रकट नहीं करता; क्योंकि मुझे विश्वास नहीं कि जिस सहानुभूति से आप मेरी बीमारी की तरफ देखते हैं, उसी सहानुभूति से दुराचार को

तरफ भी देखेंगे। मुझमें इतनी हिम्मत भी नहीं कि आप बुरा मानें, तो भी मैं उसे प्रकट करूँ। ऐसा प्रकट करनेवाला तो कोई महात्मा ही होगा। इसलिए मैं उसे छिपाता हूँ। किन्तु यह छिपाना उस दुराचार से भी बुरा है। कुष्ठरोगी अपनी बीमारी छिपाते हैं, किसीको नहीं बताते। लेकिन बीमारी बहुत बढ़ने पर बताना ही पड़ता है। फिर उसका दुरुस्त होना भी मुश्किल हो जाता है। अगर बीमारी की यह बात उसकी प्राथमिक अवस्था में ही खुलती, तो वह दूर भी हो जाती। लेकिन कुष्ठरोगी उसे छिपाते हैं, क्योंकि लोगों में उसके लिए घृणा है। इसी तरह दुराचार के लिए घृणा है, इसलिए लोग उसे छिपाते हैं। दरअसल होना यह चाहिए कि सर्वोत्तम नीति (धर्म) है सत्य और सबसे बड़ा अधर्म है असत्य (छिपाना)। यह मूल्य जब तक हम स्थापित नहीं करते, तब तक समाज का स्वास्थ्य न सुधरेगा। मैंने आपसे कहा कि समाज के मूल्यों में तर-तमभाव नहीं रहा। किस मूल्य की क्या कीमत है, इसका अन्दाजा लोगों को नहीं लगा और गलत मूल्य सामने आया।

दूसरी बात, जो मेरी मुश्किल है, मैं यह कहना चाहता हूँ कि आज शब्द की शक्ति टूट रही है। याने लोकनेता जो बोलते हैं, वही उनके मन में भी है, इसका लोगों को विश्वास नहीं रहा है। ऐसी हालत में समाज आगे नहीं बढ़ सकता। अब 'लोकनेता' किसे माना जाय, यह सवाल उठ सकता है। लेकिन आज तो लोग ही अपने नेता चुन लेते हैं और वे लोकनेता समझे जाते हैं। फिर भी लोग उनके शब्दों पर विश्वास नहीं रखते। वे यह भी मानते हैं कि नेतृत्व के लिए यह आवश्यक है कि शब्दों का अर्थ छिपाया जाय। मेरा मानना है कि आगे की प्रगति में यह बहुत बड़ा खतरा है कि शब्द-शक्ति कुण्ठित हो रही है। शब्द-शक्ति कैसे स्थापित हो, इसकी कोशिश साहित्यिकों को करनी चाहिए।

तीसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि साहित्यिकों में एक-दूसरे के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क हो सकता है, आज यह खयाल ही नहीं रहा है या कम रहा है। वैसे उनके कई सम्मेलन तो जरूर होते हैं, फिर भी

वह नहीं होता, जो मैं चाहता हूँ। वेद में एक सूक्त देख मुझे आश्चर्य लगा। शायद वह तीन मन्त्रों का सूक्त है। वेद में लिखा जाता है कि फलाने सूक्त का ऋषि वसिष्ठ है, फलाने का गृत्समद आदि। वैसे ही इन तीन मन्त्रों के लिए लिखा है कि 'सहस्रं वसुरोचिषः'। मैं सोचने लगा कि तीन मन्त्रों के हजार ऋषि तो लेखक हो नहीं सकते। ऋषि द्रष्टा ही माने जाते हैं, लेकिन तीन मन्त्रों के हजार ऋषि लेखक कैसे हो सकते हैं? सोचते-सोचते मुझे लगा कि कोई एक निमित्तमात्र का लेखक होता था। उसे वे महत्त्व नहीं देते थे। लेकिन जो दर्शन होता था, [illegible] साधना, सामूहिक तपस्या से ही होता था। अवश्य [illegible] साधना से सम्पन्न वह दर्शन भले ही एक मनुष्य द्वारा प्रकट होता हो, फिर भी वह उस एक का दर्शन न होकर उन सबका था, जिन्होंने मिलकर तपस्या की।

सन् १९४३ की बात है, जब हम वेलूर जेल में थे, तो गांधीजी ने उपवास शुरू किये। २१ उपवास हो जाने के बाद जेल में हमें इसकी खबर मिली। मेरा गांधीजी के साथ ऐसा अनुबन्ध था, यद्यपि मैंने उनसे कोई प्रतिज्ञा नहीं की थी कि उन्होंने उपवास शुरू किया, तो मैं भी करूँ, जिसके कारण मैंने भी उपवास किये। गांधीजी का ख्याल था कि 'क्विट इण्डिया' ('भारत छोड़ो') के लिए हजारों लोग उपवास करेंगे। उन दिनों मैं गणित करता था कि इस वक्त कितने लोगों ने उपवास किये होंगे। हिन्दुस्तानभर में अन्दाजन सौ-सवा सौ लोगों ने उस वक्त उपवास किये होंगे। तीन हफ्ते के १२० उपवास याने कुल ३६० हफ्तों का याने ७ साल का उपवास हुआ। उस वक्त मैंने सहज ही कह दिया कि यह ७ साल का तप हुआ। फिर मुझे पुराणों की याद आयी। उनमें लिखा रहता है कि फलाने ऋषि ने ५२ साल उपवास किये, फलाने ऋषि ने दो हजार साल तपस्या की आदि। अक्सर कहा जाता है कि पुराणों में ऐसे बड़े-बड़े आँकड़े लिखने की आदत ही है। इसलिए उनके हजार का मतलब एक ही समझा जाय। लेकिन मेरे मन में उस वक्त विचार आया कि किसीने तीन हजार साल तपस्या की, ऐसा वर्णन हो, तो उसके

लगी है कि तीन हजार लोगों ने एक साल तपस्या की और एक प्रयोग आजमाया।

मेरा मानना है कि साहित्यिकों को अपनी-अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा जरूर होनी चाहिए। लेकिन उसके साथ-साथ यदि हम सब मिलकर कोई सामूहिक प्रयोग करें, तो उसका जो दर्शन होगा, वह एक समर्थ दर्शन होगा। जिस जमाने में विज्ञान और रूहानियत को जोड़ने का काम करने की जिम्मेवारी साहित्यिकों पर आनेवाली है, उस जमाने में साहित्यिकों को अपने निजी अनुभवों के निचोड़ को ही परिपूर्ण न समझकर आंशिक समझना चाहिए। उन्हें यह भी मानना चाहिए कि हम सब मिलकर सामूहिक तपस्या कर दुनिया को एक सामूहिक चीज दे सकते हैं। हमें यह बहुत जरूरी बात मालूम हो रही है। अवश्य ही जिसे लोग संगठन कहते हैं, वह मैं नहीं चाहता। मैं संगठन का जिन्दा दुश्मन हूँ। मैं नहीं चाहता कि प्रतिभा पर कोई अंकुश हो। अगर प्रतिभा का ढाँचा बन गया और ५० आदमी इकट्ठा आये, तो उन पचासों की एक प्रतिभा होगी—उनमें एक ही एक रह जायगा। उससे न मेरा बल बढ़ेगा और न आपका। लेकिन प्रतिभा पर कोई अंकुश न होने का अर्थ लोगों के विचारों का आदान-प्रदान ही न हो, यह नहीं होना चाहिए।

मैं सिर्फ आदान-प्रदान की ही बात नहीं करता, बल्कि विचारों के अनुभव की बात करता हूँ। मेरे विचारों का आप अनुभव करें और आपके विचारों का मैं अनुभव करूँ, यह जरूरी है। इसके लिए मैं एक मिसाल देता हूँ। हम भिन्न-भिन्न धर्मग्रन्थ पढ़ते हैं। जैसे : बाइबिल, कुरान, गीता आदि। इस तरह पढ़ना एक बात है, पढ़ने में उनमें जो फर्क है, वह ध्यान में लेना दूसरी बात है और उनमें जो फर्क है, वह गौण है—यों मानकर सबमें जो एकता का अंश है, उसे पकड़ना तीसरी बात है। सिर्फ एकता को ही पकड़ना नहीं, बल्कि उनमें जो विविधता का अंश है, उसकी उपासना करना चौथी बात है। रामकृष्ण परमहंस ने इस तरह भिन्न-भिन्न धर्मों की उपासना की और एक महान् अनुभव-सूत्र

पकड़ लिया था, जो सबसे पिछड़ा हुआ है। मैं यह जरूरी मानता हूँ कि साहित्यिकों के लिए न केवल अनुभवों को [illegible] ही आवश्यक है, बल्कि उनके अनुभवों में एक एकता भी निकले। अनेक साहित्यिक मिलकर कोई एक आध्यात्मिक संशोधन करें, [illegible] हो सके, तो मैं मानता हूँ कि वह आगामी युग के लिए बहुत जरूरी है, बहुत बड़ी बात होगी।

मैंने आपके सामने जो [illegible] रखे, उन पर सोचने की आप पर कोई जिम्मेदारी नहीं है। आपके मन में जो है, वह भी आप सामने रखें और मैं सुनूँ। इस तरह हम दोनों मिलकर एक-दूसरे की कुछ थोड़ी-सी मदद पहुँचायेंगे। इस समय यह हो जाय, तो अच्छा होगा।

अपनी यात्रा के सम्बन्ध में भी कुछ कहना चाहता हूँ। जाहिर हुआ है कि इसके आगे मैं अब ध्यान में जानेवाला हूँ। यह [illegible] शब्द कुछ नये अर्थ में इस्तेमाल किया जा रहा है। यह थोड़ा गौण शब्द पड़ता है। लेकिन 'वास' कहना ठीक नहीं है। मैं '[illegible]', '[illegible]' करने जा रहा हूँ। याने पहले जिस तरह दो-चार महीने का प्रोग्राम बनता था, वैसा अब नहीं बनेगा। मैं सिर्फ दो-चार दिन का ही प्रोग्राम बनाता जाऊँगा और आगे क्या करना है, कहाँ जाना है, इन सबकी आजादी मैं अपने हाथ में रखना चाहता हूँ। आठ साल तक मेरी यात्रा हुई। अब मैं फिर से उन उन प्रदेशों में दुबारा जाऊँ, तो उसी तरीके से जाऊँ, यह मेरे लिए लाभदायी नहीं है। अब मैं [illegible] भी जा सकता हूँ और कहीं जरूरत महसूस हुई, तो ज्यादा दिन भी रह सकता हूँ। कोई भी कमाण्डर अपनी फौज का प्रोग्राम नहीं बताता। अब तक मेरा प्रोग्राम बनता था, लेकिन अब मैं जरा गहराई से जाना चाहता हूँ। इसीको मैंने '[illegible]' कहा है। इसलिए अभी आप सबसे एकत्रित मिलना हुआ, वैसा मिलना फिर कब होगा, पता नहीं। आप सबको मेरे बहुत [illegible] प्रणाम! जय जगत्!

अमृतसर

१०-११-'५९

मेरे अत्यन्त प्रिय मित्रो, मैं वर्णन नहीं कर सकता कि इस छोटे-से सम्मेलन में मुझे कितना आनन्द हुआ और कितना बल मिला है। अभी हम तमिल व्याख्यान सुन रहे थे। वह भाषा भी बहुत मीठी लगती है। लेकिन मुझे शर्म मालूम होती है कि मैं अभी तक तमिल बोल नहीं सकता। अभी अप्पाराव हिंदी में बोले। उनकी मातृभाषा तो तेलुगु थी। मैं ये सब भाषाएँ समझता तो हूँ, लेकिन बोल नहीं सकता, इसलिए शर्मिन्दा हूँ। आप लोगों को मालूम नहीं होगा कि अप्पाराव मेरे गुरु हैं। मैंने जेल में तेलुगु सीखने की कोशिश की थी। उसके बाद मेरा तेलुगु का ज्ञान बढ़े, इस उद्देश्य से तेलुगु मित्रों ने अप्पाराव से सिफारिश की। इसलिए वे मेरे पास वर्धा आये और कुछ रोज रहे। उन्होंने मुझे तेलुगु सिखाने की बहुत कोशिश की, जिससे मैं तेलुगु समझता हूँ, लेकिन बोल नहीं सकता। दक्षिण के लोग हिन्दी बोलने की बहुत कोशिश करते हैं और बोल भी लेते हैं, यह सन्तोष की बात है।

मैं जब तमिल-व्याख्यान सुन रहा था, तो मुझे भारतीयार का एक पद्य याद आया, जिसमें कवि कहता है कि मैं जितनी जबानें जानता हूँ, उन सबमें तमिल जैसी मीठी जबान मैंने नहीं सुनी। तमिल की मधुरता मैं भी कबूल करता हूँ। मेरे कान अभ्यस्त हैं और भाषा में जो नाद-माधुर्य होता है, उसके स्वभाव में जो चीज होती है, उसे मैं पकड़ लेता हूँ। जब भारतीयार की यह कविता मैंने पढ़ी, तो उसका कुछ हिस्सा मैंने बदजबानी कर लिया। मुझे वह सही मालूम हुआ। मैंने उसमें थोड़ा फर्क किया। भारतीयार कहता है कि "तमिल भाषा के समान मधुर भाषा मैंने नहीं सुनी।" उसके बदले मैंने कहा कि "मातृभाषा के समान मधुर भाषा मैंने नहीं सुनी।" हरएक को मातृभाषा, अपनी जबान मीठी लगती है। सिर्फ लगती ही नहीं, मीठी होती भी है। जब कभी मैं परमेश्वर की योजना को याद करता हूँ, तो लगता है कि उसकी योजना कितनी दयामय है कि उसने हर बच्चे को माता के उदर में जन्म दिया। इसलिए हरएक को प्रेम की भाषा पहले ही दिन से सीखने को मिलती है। जिस

मातृभाषा में वह प्रेम प्रकट होता है, स्वाभाविक ही मनुष्य को वह भाषा मीठी [illegible] है। इसलिए और भाषाओं की तुलना में वह विशेष मीठी होती है, क्योंकि भगवान् के एक सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि की वह भाषा होती है! माता से बढ़कर भगवान् का श्रेष्ठ प्रतिनिधि दूसरा कौन हो सकता है? कभी-कभी लोगों को आश्चर्य होता है कि यह मनुष्य ब्रह्मचारी रहा है, फिर भी माता के लिए इसे इतना आदर कैसे? वे समझते नहीं कि इस शख्स ने ब्रह्मचर्य की कोशिश की है, इसीलिए उसे माता के लिए अत्यन्त आदर है।

मैं कहना चाहता हूँ कि यह कोई आकस्मिक घटना नहीं कि हिन्दुस्तान में १४ विकसित भाषाएँ मौजूद हैं। अभी आपने गान सुना ही था : 'भारतेर महामानवेर सागरतीरे।' भारत के इस समुद्र में दुनियाभर की संस्कार-नदियाँ मिली हैं। इसलिए यहाँ के प्राचीनतम ग्रन्थ में एक नवीनतम शब्द हमें मिल गया, '[illegible]।' ऋग्वेद में यह शब्द आया है, जो आज के हमारे कर्तव्य को बहुत अच्छी तरह प्रकट करता है। यह शब्द यहाँ की संस्कृति को इसीलिए सूझा कि इस संस्कृति में निरन्तर यही ख्याल किया गया है कि हम कोई संकुचित नहीं, परम व्यापक हैं। इसीको 'दर्शन' कहते हैं। फिर उसके अनुसार आचरण और जीवन बनाने के लिए चाहे समय लगे, चाहे युग बीत जाय, लेकिन दर्शन तो दर्शन ही है। इसलिए भारत के लिए जो प्रेम मैं अपने में पाता हूँ, बावजूद इसके कि 'जय जगत्' का मन्त्र मैं बोलता हूँ, उस प्रेम का 'जय जगत्' के साथ मैं कोई विरोध नहीं देखता।

तुलसीदासजी ने एक पद्य लिखा है, जो मुझे इस पदयात्रा में बार-बार याद आता है : 'भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज शरीर भलो लहिकै। करषा तजिकै परुषा, बरषा हिम मारुत घाम सदा सहिकै। जो भजै भगवान सयान सोई। तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै।' धन्य है यह भारत-भूमि, धन्य है यह मानव का कुल, जिसमें हमें जन्म मिला है। हमें समाज भी बहुत अच्छा मिला है और शरीर भी अच्छा मिला है,

जिसमें अद्भुत प्रकृति चरितार्थ हुई है। कठोर वाणी छोड़कर बारिश, ठंड, धूप, हवा—सब सहन करते हुए जो भगवान् की भक्ति करता है, वही सयाना है। अक्सर ठंड, बारिश आदि सहन करनेवालों के चित्त में बहुत दफा अहंकार, वाणी की कठोरता, क्रोध आदि होते हैं। उन सबको छोड़कर नम्रभाव से बिना अहंकार के भगवान् की भक्ति करनेवाला सयाना है। तुलसीदासजी कहते हैं कि जैसे चातक ने हठ पकड़ लिया है, उस तरह आग्रह के साथ इस तपस्या में, हरि-भक्ति में चिपके रहकर जिस किसीने अपना जीवन बिताया, वह धन्य है। **'नतु और सबै विषबीज बये। हर हाटक कामदुहा नहिकै।'** नहीं तो फिर कामधेनु को नत्थी डालकर और सोने का हल बनाकर विष-बीज ही बोया, यही कहा जायगा।

इसलिए जय-जगत् के साथ भारत-भूमि का जो प्रेम महापुरुषों ने हमें यहाँ सिखाया, उसका पूरा मेल है, दोनों में किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। बल्कि भारत-भूमि कुल जगत् का एक छोटा-सा नमूना है। एक छोटे त्रिकोण को लेकर, जिसे कोई उपाधि न हो, हम एक सिद्धान्त सिद्ध करते हैं, तो फिर वही सिद्धान्त सिद्ध करने के लिए कोई बड़ा त्रिकोण लेने की जरूरत नहीं रहती। इसी तरह भारत में एक चीज हम सिद्ध करते हैं, तो वह चीज कुल दुनिया में सिद्ध होती है, ऐसी श्रद्धा रखकर आप लोगों की सेवा में आठ साल से घूम रहा हूँ।

आपके आशीर्वादों का मैं अत्यन्त इच्छुक हूँ। मैं जानता हूँ कि आप सारे अपने अपने कामों में लगे हैं। जिस काम में लगने की भगवान् ने मुझे भावना दी है, उस काम में समय देने के लिए आपके पास उतना अवकाश नहीं रहता होगा। लेकिन इसीलिए मैं आपके आशीर्वादों का इच्छुक हूँ कि आप इस काम में थोड़े तटस्थ रहकर सोच सकते हैं। जो खेल में शामिल होता है, वह उसे उतना नहीं पहचानता, उसके गुण-दोषों को उतना नहीं जान सकता, जितना तटस्थ साक्षी रहनेवाला जान सकता है। इसीलिए खेल में एक 'अंपायर' रखा जाता है, जो ठीक

फैसला दे सकें। मैंने आप लोगों को 'अंपायर' माना है। पठानकोट में सर्व-सेवा-संघ की सभा में मैंने अपने [illegible] से कहा था कि आपको साहित्यिकों का आशीर्वाद हासिल करना चाहिए।

मैंने उनसे यह भी कहा था कि बाहर का जीवन किस प्रकार का है, यह हमें नहीं देखना चाहिए। जहाँ उत्तम जीवन है, वहीं उत्तम विचार का सम्भव है—यह तो सामान्य नियम हुआ। लेकिन किसी कारण अन्दर एक [illegible] होता है, तदनुसार बाहर का जीवन नहीं बनता। फिर भी अन्तर में परम रमणीय उन्नत विचार हो सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा कि भगवान् को मानना पड़ता है, क्योंकि भगवान् एक 'डिस्टर्बिंग फैक्टर' है। दुनिया में सब कुछ कार्य-कारण के नियम से चलता, तो भगवान् को कोई तकलीफ नहीं देनी पड़ती। लेकिन बाह्य आचरण भिन्न कोटि का होते हुए भी अन्दर उन्नत विचार की स्फूर्ति होती है। आखिर शरीर से आत्मा भिन्न तो है ही। इस हालत में आरोग्यवान् शरीर में आरोग्यवान् मन हो, इस सामान्य नियम के लिए अवश्य अपवाद हुए हैं और होंगे। इसलिए मैंने [illegible] से कहा था कि ऐसे जो भी साहित्यिक होंगे, उनके पास [illegible] जाकर अपने काम की जानकारी उन्हें देनी चाहिए और उनसे तटस्थ फैसला माँगना चाहिए। यही आपके आशीर्वाद का अर्थ है। मैं यह नहीं चाहता कि आप हमारे विचारों के पृष्ठपोषक बनें। आप स्वयं स्वतन्त्र हैं। आपकी आलोचना भी हमें मददगार साबित होगी। अगर आपने अनुकूल दर्शन किया, तो भी हमारे लिए वह लाभदायी साबित होगा। दोनों बाजू हमें लाभ ही है।

एक भाई ने कहा था कि "इन दिनों हम साहित्यिकों की इज्जत बहुत थोड़े लोग करते हैं। नेता अपनी धुन में रहते हैं। धार्मिक कहलाने वाले पुरुष भी अपने [illegible] में फँसे रहते हैं। शायद अपने को कुछ ऊँचा भी मानते हैं। फिर जो [illegible] माने जाते हैं, उनके पास तो हमारा कोई हिसाब ही नहीं है। वे हमारी कोई परवाह ही नहीं

करते !" मैंने उनसे पूछा कि क्या आप लोगों की परवाह करते हैं ? अगर आप सबकी परवाह करते हैं, तो आपके लिए काफी है। क्योंकि आप मातृस्थल में हैं और बाकी सब बच्चे हैं। बच्चे अगर माता को भूल जायँ, तो बहुत हानि नहीं होती। लेकिन माँ अगर बच्चे को भूल गयी, तो बहुत हानि होती है।

इन दिनों कुछ लोग मेरे पास आते हैं, जो बहुत उत्साह से बातें करते हैं। जो आगामी भविष्यकाल का चिन्तन करनेवाले होते हैं, सब पुरानी चीजें छोड़ चुके होते हैं, यहाँ तक कि ईश्वर को भी नहीं मानते, मैं उनसे कहता हूँ कि आप ईश्वर को छोड़ते हैं, तो कोई परवाह नहीं, ईश्वर आपको नहीं छोड़ता। आप परमेश्वर को मानें या न मानें, इससे कोई नुकसान नहीं होगा। वह आपको मानता ही है। अगर ऐसा कोई दिन आये, जब कि भगवान् तुम्हें, हमें मानना छोड़ दे, तब तो सबके लिए खतरा पैदा होगा। इसलिए साहित्यिकों की कोई परवाह नहीं करता, ऐसा खयाल साहित्यिकों को नहीं करना चाहिए। लोग परवाह करें या न करें, साहित्यिकों को सबकी परवाह करनी चाहिए और सबकी तरफ वात्सल्य-भाव से देखना चाहिए। बच्चे प्रयोग करते हैं, तो माता उन प्रयोगों को देखती है। इस तरह साहित्यिकों की तटस्थ भूमिका होनी चाहिए। लेकिन सिर्फ तटस्थ ही नहीं, बल्कि पक्षपाती तटस्थ भूमिका होनी चाहिए। उदासीन तटस्थ नहीं। वे दुनिया का दर्शन तटस्थ रूप से करें। लोगों से, उनके विकारों से अलग रहकर उनकी तरफ देखें, फिर भी उनके लिए हमदर्दी, पक्षपात हो।

वेद में एक मन्त्र है : 'आयन्मा वेना अरुहन् ऋतस्य। एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे। मनश्चिन्मे हृद् आ प्रत्यवाचत्। अचिक्रदन् शिशुमान् सखायः ॥' परम रमणीय सत्य के पर्वत पर बैठकर मैं वहाँ आनन्द लूट रहा था, अकेला एकान्त में बैठा था। उतने में मेरे हृदय से एक मानसिक उद्गार निकला—ये सारे मेरे शिशुमान् सखा, मित्र, मेरे पास आयें। मैं तो संसार से मुक्त ऊपर सत्य-गिरि पर बैठा हुआ हूँ, लेकिन ये मेरे

मित्र गृहस्थ-धर्मी, संसार में पड़े लोग दुःख में से गड़े हैं; मेरी मदद के लिए चिल्लाते हैं। जब मैं यह देखता हूँ, तो मुझे पर्वत पृष्ठ से नीचे उतर-कर, सत्य की भूमिका छोड़े बिना उनकी सेवा करनी पड़ती है। यह भावार्थमात्र है, जो वहाँ नहीं लिखा है, सिर्फ सूचित किया गया है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि जो तटस्थ, निर्विकार होने पर भी संसार में बरतनेवाले सामान्य जनों के लिए अत्यन्त प्रेम रखकर चित्त में उनके लिए पक्षपात रखकर बरतेगा, वही सर्वोत्तम साहित्यिक होगा।

साहित्यिक के लिए विकारों से परिपूर्ण निर्लिप्तता अनिवार्य है। लेकिन विकारों को पहचानने के लायक उन विकारों के साथ समरस होने की शक्ति भी उतनी ही अनिवार्य है। साहित्यिक के लिए ये दो अनिवार्यताएँ हैं। बहुत दफ़ा आश्चर्य होता है कि परम तटस्थ ऋषि व्यावहारिक ज्ञान की सूक्ष्मता और मनुष्य-स्वभाव की परख किस तरह दिखाते थे। खास-कर व्यास का जो दर्शन हमें होता है, उसे देखकर आश्चर्य होता है कि मानव-भावनाओं का इतना सूक्ष्म ज्ञान उन्हें किस तरह हुआ होगा। लेकिन इसमें आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि वे निर्लिप्त एवं तटस्थ थे और बेचारे लोगों के साथ पक्षपात करने की शक्ति रखते थे। यह दोहरी शक्ति होने के कारण वे लोगों को न सिर्फ पहचानते थे, बल्कि उनके साथ हमदर्दी भी रखते थे। थर्मामीटर सबका बुखार नापता है। अगर उसे खुद का बुखार होता, तब तो वह दूसरे के बुखार को यथार्थ रीति से नाप नहीं सकता। उसे अपना बुखार नहीं होता, इसीलिए वह सबका बुखार ठीक से नाप सकता है। सबका विकारमापक इसीलिए बनता है कि वह निर्वि-कार है। लेकिन थर्मामीटर साहित्यिक नहीं है, द्रष्टा है। साहित्यिक में यह द्रष्टा की शक्ति, निर्लिप्तता चाहिए, लेकिन उसके साथ, बुखार के साथ हमदर्दी दिखानेवाले वैद्य का भी लक्षण चाहिए। बुखार को ठीक पहचानकर उसके निवारण के लिए दवा भी बतानी चाहिए। वे निर्विकार होने के कारण बुखार को ठीक पहचान सकेंगे। यह साहित्यिक की शक्ति

है। परमात्मा की कृपा से दुनियाभर में निरन्तर ऐसे साहित्यिक हुए हैं और उनकी राह पर चलनेवाले असंख्य छोटे-मोटे साहित्यिक भी हुए हैं।

आज एक भाई ने कहा कि अगर हम सत्य, शिव, सुन्दर का योग अपेक्षित रखें, तो वह दुर्लभ होगा। उनका अभिप्राय यह था कि इस कसौटी पर नापा जाय, तो शायद सिर्फ तुलसीदास ही खरे निकलेंगे और बाकी सारे किसी एक या दो अंश में उत्तीर्ण होंगे और बचे हुए अंशों में फेल होंगे। उनका यह अभिप्राय सही हो सकता है। मुझे हिन्दी-साहित्य का इतना ज्ञान नहीं है कि मैं अपना विचार पेश करूँ। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने तुलसीदास के लिए जो कहा, वह सर्वथा सत्य है। तुलसीदासजी की कोटि के न हों, लेकिन हम उनके रास्ते पर चलनेवाले हो सकते हैं। एक ज्ञानी को जो गुण-सम्पदा हासिल हो सकती है, वह उसे भी हासिल हो सकती है, जो ज्ञानी नहीं है, परन्तु ज्ञानी के वचनों पर श्रद्धा रखकर चलने की श्रद्धा जिसमें है।

मैंने इस वाक्य का प्रयोग जान-बूझकर किया है। श्रद्धा रखनेवाले को ज्ञानी का गुण-समूह मुफ्त में हासिल होता है। रामजी जो काम ज्ञान से कर सके, वही काम हनुमान् श्रद्धा से कर सके। तुलसीदासजी एकआध ही निकले। लेकिन उस कोटि के न होने पर भी उस दिशा में जिनका विचार जाता है, ऐसे साहित्यिक भी बहुत काम करते हैं। मुझे तो ऐसे साहित्यिकों का विशेष आकर्षण है, जो अपूर्ण होते हुए भी पूर्ण के साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील होते हैं।

बहुत से लोगों को पूर्णिमा की रात्रि बहुत सुन्दर लगती है, मुझे भी लगती है। लेकिन एक कवि ने लिखा कि जैसे रवि-शशिहीन अम्बर बिलकुल विरूप, अनाकर्षक लगता है, वैसे ही बिना भक्ति के जीवन अनाकर्षक है। दूसरी बात तो मैंने कबूल की, लेकिन रवि-शशिविहीन अम्बर मुझे तो बड़ा सुन्दर मालूम होता है। अमावास्या की रात्रि में जहाँ सूर्य भी नहीं और चन्द्र भी नहीं, किसीकी जुल्मी सत्ता किसी पर नहीं चलती। तारे अपनी-अपनी रोशनी से चमकते हैं। एक चाँद होता है, तो उस एक

की [illegible] सत्ता चलती है। इसलिए दूसरों का तेज फीका पड़ता है। लेकिन चाँद नहीं होता, तो उस रात्रि को सारे नक्षत्र चमकते हैं। वह दृश्य बड़ा ही रमणीय मालूम होता है। इसलिए कोई महान् चन्द्र या सूर्य न हो, लेकिन छोटे छोटे नक्षत्र हों, तो हमें उनका सौन्दर्य कम नहीं लगता। उनका मार्गदर्शन कम नहीं मिलता। बल्कि मैं तो घूमने वाला हूँ, इसलिए अपने अनुभव से कहता हूँ कि [illegible] जितना स्पष्ट रात में होता है, उतना दिन में भी नहीं होता। हम किस दिशा में, किस कोण में जा रहे हैं, यह सब ज्ञान रात में अधिक होता है। सूर्य भी हमें उतनी स्पष्ट दिशा नहीं दिखा सकता, जितने ये सारे सितारे, नक्षत्र मिलकर बता सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि एक महान् साहित्यिक जितना कर सकता है, उतना छोटे-छोटे साहित्यिक सब मिलकर कर सकते हैं।

साहित्यिकों को मिलने की बात के बारे में मैं अपना विचार स्पष्ट करना चाहता हूँ। मैंने कल कहा था कि उपासनाएँ अनेकविध होती हैं। उन सबका अनुभव लेनेवाला कोई शख्स राम कृष्ण के जैसा निकला, तो जीवन का [illegible] होता है। इसी तरह अगर साहित्यिक अपने अनुभवों को एकत्रित उपासना की दृष्टि से अनुभूत करें, तो किसी एक सूरज से जो रोशनी नहीं मिलेगी, वह उनसे मिलेगी। [illegible] होगा। आप अभी यहाँ आये हैं और एकत्र बैठकर आपने कुछ सहजभाव से अपने विचार प्रकट किये हैं। यह प्रथा आप जारी रखिये और बीच-बीच में मिलते रहिये, सिर्फ मिलने के लिए, और किसी उद्देश्य से नहीं। दीवाली आयी, तो लड़की चन्द दिन बिताने के लिए मायके जाती है, और कोई प्रयोजन नहीं होता। सिर्फ मायके जाना ही स्वयंपूर्ण प्रयोजन होता है। वैसे ही सिर्फ मिलने के लिए बीच बीच में आप मिलते रहिये और एक-दूसरे के अनुभवों को जोड़कर उपासना कीजिये, इतनी नम्र प्रार्थना कर मैं समाप्ति करना चाहता हूँ।

इसके आगे मेरी यात्रा कुछ अज्ञात सी होगी। इसलिए मालूम नहीं कि इस प्रकार अनेक के साथ एकत्र बैठने का [illegible] का योग फिर

से आयेगा या नहीं। लेकिन मैंने अपने जीवन में अनुभव किया है कि शारीरिक संगति में जितना पाता हूँ, उससे बहुत ज्यादा मानसिक संगति में पाता हूँ। आपसे बार-बार मिलने का मौका नहीं आयेगा, खास कर इस तरह एकत्र मिलने का मौका नहीं आयेगा। फिर भी मेरा मन जहाँ-जहाँ जो विचार प्रकट होता है, उस सबकी समन्वित उपासना करने का अनुभव करता है। इसीलिए तमिल मुझे उतनी ही मीठी लगती है, जितनी अपनी मातृभाषा मराठी।

भारत का यह गौरव है कि यहाँ चौदह विकसित भाषाएँ हैं। यूरोप में विकसित भाषाएँ हैं, लेकिन उसका अभी एक देश होने को बाकी है। चीन बहुत बड़ा देश है, लेकिन उसमें अनेक भाषाएँ नहीं हैं। रूस में अनेक भाषाएँ हैं, पर विकसित नहीं हैं। हिन्दुस्तान ही एक ऐसा देश है, जहाँ इतनी विकसित भाषाएँ एक देश में एकत्र रहती हैं। इसे मैं आकस्मिक घटना नहीं मानता। यह हमारी समाजशास्त्र की प्रगति है, जिसके कारण यह बना है। नहीं तो आज यूरोप में अलग-अलग राष्ट्र इसलिए बने हैं कि भाषाएँ अलग-अलग हैं। हमारे यहाँ भाषावार प्रान्त-रचना बनाने के समय कुछ दूषित मनोवृत्ति प्रकट हुई थी। परन्तु उसे मैं ज्यादा दूषित नहीं मानता। कारण, किसीने यह माँग नहीं की कि हमारी भाषा का अलग-अलग राष्ट्र बने। ज्यादा-से-ज्यादा यही माँग की थी कि हमारी भाषा का अलग सूबा हो। इस दृष्टि से भारत का मैं यह बड़ा भाग्य मानता हूँ और इसे उसका दिव्य-भव्य इतिहास मानता हूँ। हमारे यहाँ सन्तों ने अनेक धर्मों की सम्मिलित उपासना की है। वैसे ही अनेक भाषाओं के साहित्य और साहित्यिकों के विचारों की सम्मिलित उपासना हम करें, इतनी प्रार्थना कर आपको प्रणाम करता हूँ।

अमृतसर
१२-११-'५९

(१) साहित्य में शृंगार की मर्यादा

प्रश्न : साहित्य में शृंगार-वर्णन की मर्यादा क्या हो? वाल्मीकि जैसे महाकवि को उर्मिला का इतना विस्मरण क्यों हुआ?

उत्तर : इस प्रश्न की चर्चा शायद बंगाल से शुरू हुई है। 'विस्मृत उर्मिला' नाम का एक लेख गुरुदेव ने लिखा था। लक्ष्मण माँ के पास गये तो, परन्तु उर्मिला से नहीं मिले। यह ठीक है कि वे संयमी थे, लेकिन उर्मिला का विस्मरण नहीं होना चाहिए था। उस लेख के शायद ऐसे भाव थे। इसके बाद कुछ कवियों ने उस प्रसंग का वर्णन भी किया है। अगर उस वर्णन में अश्लीलता नहीं है, तो मैं उसमें दोष नहीं देखता।

लेकिन वाल्मीकि जैसे कवि, जिनकी बराबरी का कोई और नहीं, इस प्रसंग का जरा भी जिक्र नहीं करते, तो क्या सचमुच वह प्रसंग हुआ ही नहीं? ऐसा नहीं है। लक्ष्मण उर्मिला से जरूर मिले होंगे, लेकिन कवि ने उर्मिला की मुलाकात को महत्त्व देने के बजाय लक्ष्मण की अनासक्ति और उसकी भक्ति तथा निष्ठा को महत्त्व देना उचित समझा। लक्ष्मण का वैराग्य बताने की दृष्टि से ही शायद कवि ने उर्मिला के साथ की भेंट का वर्णन नहीं किया। लक्ष्मण माता के पास भी गया, तो वहाँ से भी मानो वह छूटकर आया है। अगर माता रोकती, तो भी वह नहीं रुकता। वह तो राम का भक्त था। लेकिन मातृ-प्रेम कितना अद्भुत था, यह बताने के लिए कवि ने उस प्रसंग का वर्णन किया है।

मेरी मान्यता है कि उर्मिला-लक्ष्मण मुलाकात के प्रसंग का वर्णन न करके भी वाल्मीकि ने उसका वर्णन कर दिया है। उस अभाव में भी वाल्मीकि की बहुत भारी कला प्रकट होती है।

अक्सर लोग उत्तान वर्णन को अश्लील समझते हैं। वह तो अश्लील है ही। लेकिन मेरे विचार में तो सूचन भी अश्लील है। पति-पत्नी का मर्यादित और सूचनात्मक वर्णन भी लाभदायक है, ऐसा मैं नहीं मानता।

सन्तानोत्पत्ति वैज्ञानिक विषय है और पति-पत्नी का सम्बन्ध पवित्र सम्बन्ध है। सन्तानोत्पत्ति धार्मिक भावना से ही होनी चाहिए। मैं तो दूसरी कल्पना ही नहीं कर सकता। बल्कि जैसे हम भूदान-यज्ञ के लिए भगवान् का स्मरण करके यात्रा का आरम्भ करते हैं, वैसे ही पति-पत्नी सम्बन्ध भी ऐसी पवित्र भावना से होना चाहिए और यदि समागम विफल हुआ, तो उसका दोनों को दुःख होना चाहिए। किसान तो केवल कर्तव्य समझकर ही दूसरी बार बोनी करता है। उसे पहली बोनी वृथा जाने का दुःख हुए बिना नहीं रहता। उसी तरह संतानोत्पत्ति के वास्ते दूसरी बार स्त्री-सम्बन्ध करना पड़े, तो पुरुष वैसा करेगा, लेकिन दुःखी हृदय से, केवल कर्तव्य-भावना से। यह भावना पैदा करना साहित्यिकों का काम है। लेकिन यह तो तब सम्भव है, जब साहित्यकारों के जीवन में वह चीज प्रकट हो।

(२) भूदान और साहित्यकार

प्रश्न : भूदान-यज्ञ के बारे में आप साहित्यकारों से क्या अपेक्षा करते हैं?

उत्तर : भूदान-यज्ञ की वैचारिक भूमिका का प्रचार करने के काम में साहित्यकार बहुत हाथ बँटा सकते हैं। यह कार्य इतना स्फूर्तिदायी है कि उसमें से कोई रसमयता सहज प्रकट हो सकती है।

(३) साहित्यसेवी महिलाएँ और सेवा-कार्य

प्रश्न : क्या साहित्यसेवी स्त्रियाँ रचनात्मक कार्य में प्रत्यक्ष हिस्सा नहीं ले सकतीं?

उत्तर : क्यों नहीं ले सकतीं! कितना अच्छा हो, अगर वे रचनात्मक

कार्य में योग दें। उसका अर्थ होगा कि वे वाल्मीकि भी बनीं और राम की सेवा में भी दाखिल हुईं।

शहर में कितनी ही स्त्रियाँ दुःखी, बीमार, बेरोजगार होती हैं। उन सबके पास उन्हें पहुँचना है, उनकी सेवा करनी है। अपनी माँ का मुझे स्मरण है कि जब किसीके यहाँ रसोई की अड़चन होती, तो वह स्वयं वहाँ पहुँच जाती और रसोई कर आती। अपने घर की रसोई पहले कर लिया करती थी। मैंने पूछा—"यह स्वार्थ क्यों ? पहले हमारे लिए पकाती हो, फिर उनके लिए।" माँ ने जवाब दिया—"यह स्वार्थ नहीं है, परमार्थ ही है। अगर पहले उनकी रसोई कर आऊँ और बाद में तुम्हारी करूँगी, तो तुम्हें तो खाने के समय गरम रसोई मिलेगी, लेकिन उनके खाने के समय तक वह सबेरे की रसोई ठंडी हो जायगी।" यह तो मैंने एक मिसाल दी। स्त्रियों को पुरुष लोग थोड़ी फुरसत दें, तो वे कितना काम कर सकती हैं, इसकी कल्पना इससे की जा सकती है। एक और काम वे कर सकती हैं। अगर वे एक हरिजन बालक को अपने पास रख लें और अपने पुत्र की तरह उसे छोटे से बड़ा करें, तो यह कार्य एक हरिजन छात्रालय चलाने की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व का और क्रान्तिकारी कार्य होगा। फिर चरखे और चक्की द्वारा वे घर में ग्रामोद्योग और परिश्रम-निष्ठा का वातावरण बना सकती हैं। मैं देखता कि उसमें उनकी प्रतिभा को भी विकास का काफी मौका मिलता है। अगर स्त्रियों को सार्वजनिक काम में हिस्सा लेना है, तो पुरुषों को उनके काम में हाथ बँटाना चाहिए। आज ऐसा लगता है कि उत्तर प्रदेश में पुरुष स्त्रियों को बिल्कुल गुलाम रखना ही जानते हैं।

(४) साहित्य के जरिये जीविकोपार्जन

प्रश्न : साहित्य के जरिये जीविकोपार्जन का औचित्य क्या है ?

उत्तर : हमें सीजर को सीजर का भाग देना चाहिए, और परमेश्वर को परमेश्वर का। शरीर को तो खिलाना ही चाहिए, लेकिन आत्मा को

भी खिलाना चाहिए। यदि कोई मनुष्य सब कुछ समाज को समर्पण करके समाज से जो सहज प्राप्त हो सके, उसमें समाधान माने, तो वह बहुत ही अच्छा है। लेकिन अगर कोई मनुष्य साहित्य के जरिये अपनी आजीविका एक विशिष्ट मर्यादा में प्राप्त करे, तो उसमें भी कोई दोष नहीं है।

(५) दक्षिण की एक भाषा सीखिये

प्रश्न : राष्ट्रभाषा पर कुछ कहें।

उत्तर : अब हिन्दी को हम राष्ट्रभाषा बना चुके हैं। परिणामतः दूसरे प्रान्तवाले भी हिन्दी सीख रहे हैं। हिन्दी जाननेवाले अब केवल उत्तर भारतवाले ही नहीं रहेंगे। दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने में कितना अधिक परिश्रम उठाना पड़ता है, इसकी कल्पना हम उत्तरवाले नहीं कर सकते। हिन्दी में जो लिंग भेद है, वह दक्षिण में कतई नहीं है। वहाँ अचेतन-चेतन का भी भेद नहीं। इसलिए जब हिन्दीवाले दीवार को स्त्रीलिंग और पत्थर को पुल्लिंग कहते हैं, तो वे लोग घबरा जाते हैं। फिर, अगर ऐसा हो कि छोटी वस्तु को स्त्रीलिंग मानें जैसे कटोरी और बड़ी को पुल्लिंग जैसा कटोरा, तो दीवार तो बहुत बड़ी है और पत्थर छोटा है। उनकी दिक्कत इसलिए भी बढ़ जाती है कि अंग्रेजी में भी ऐसा लिंग-भेद नहीं है।

इसलिए हमारे हिन्दी के साहित्यिक भी दक्षिण भारत की एक भाषा सीखें, तो बहुत अच्छा होगा। मैं खास तौर से तमिल सीखने की सिफारिश करूँगा। यह भाषा दो हजार वर्ष पुरानी है। उसका अपना सुन्दर व्याकरण है। हमारी भाषाओं के व्याकरण—हिन्दी, मराठी आदि के व्याकरण तो सौ-सौ वर्ष ही पुराने हैं, लेकिन तमिल का व्याकरण कम-से-कम उन्नीस सौ वर्ष पुराना है। तमिलवाले हिन्दी जोरों से सीख रहे हैं। नतीजा यह है कि हिन्दी के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का तमिल में अनुवाद हो रहा है। लेकिन तमिल के ग्रन्थों का हमें पता नहीं लगता।

और अगर ऐसा ही रहा कि हम तो उनकी भाषा सीखें नहीं और वे

हमारी भाषा सीखते ही रहें, तो अंग्रेजी के बारे में जो विरोध की भावना लोगों के हृदय में पैदा हो गयी थी, वैसी ही भावना हिन्दी के बारे में भी हो सकती है। आज हिन्दी भाषा के ज्ञान के बारे में आपके मामूली-से-मामूली आदमी की बराबरी करने के लिए उनके बड़े-से-बड़े आदमी को दस दस, पाँच-पाँच साल मेहनत करनी पड़ती है। यह कोई अच्छी बात नहीं है। इसलिए हमें अपनी भाषा में, उसके व्याकरण में अखिल भारत की दृष्टि से सुधार करने चाहिए। इसलिए मेरा कहना है कि जब लोग उनकी एक भाषा सीख लेंगे, तो हमें उनकी दिक्कतों का पता चलेगा और हमारा मन हिन्दी में सुधार के लिए अनुकूल होगा।

भाषा सीखने की यह बात मैं किसीके लिए लाजिमी नहीं करना चाहूँगा, क्योंकि यह सब प्रेम से होना चाहिए। काशी और प्रयाग में दक्षिण के कितने ही लोग निवास करते हैं। उनसे हमारे सम्बन्ध बँधे और बढ़ें, तो उन्हें अच्छा तो लगेगा ही, हमें भी लाभ होगा। वेलूर-जेल में कदम रखते ही मैंने तमिल पढ़ना शुरू किया। लोगों को अचरज हुआ। वहाँ दक्षिण के चारों प्रान्तों के लोग जमा थे, लेकिन वे भी आपस में अंग्रेजी में ही बोलते थे। मैंने तमिल सीखना शुरू किया। हमारे तमिल के गुरुजी ने कहा, "आपने इस जेल में आकर तमिल की इज्जत बढ़ा दी।" आज मैं दक्षिणवालों के दिलों में अपने प्रति जो प्रेम और श्रद्धा पाता अनुभव करता हूँ, उसका कुछ श्रेय मेरे तमिल-प्रेम को ही है।

(६) भूमि-क्रान्ति की मूर्ति

प्रश्न : आपने कहा है कि यहाँ पर भूमि-क्रान्ति होगी, तो इसका स्पष्ट दर्शन, स्पष्ट चित्र क्या होगा?

उत्तर : अभी तो हम शान्त होना चाहते हैं। यह तो आप सब लोग ढूँढ़ सकते हैं, यह आपका काम है, गोता लगाकर ढूँढ़ निकालें। हमारी एक श्रद्धा है और वह हमने आपके सामने रखी है। आपको शायद ऐसी बात सूझेगी, जो हमें न सूझी हो। एक वैज्ञानिक को पूरा दर्शन नहीं

होता है। एक दार्शनिक को पूरा दर्शन नहीं होता। वह दूसरे को हो सकता है। भूदान का पूरा दर्शन हमें ही हुआ है, यह तो हम नहीं कह सकते। दूसरे को भी इसका दर्शन हो सकता है। इसलिए आप ही सोचिये और कल्पना कीजिये।

सबका सोचने का ढंग अलग होता है। एक ब्रह्मवादी कहता है कि एक ब्रह्म है। परन्तु सगुण चिन्तन करनेवाले के पास तो पचासों प्रकार के देवता होते हैं। कुछ एक मुखवाले देवता, कुछ पाँच मुखवाले देवता, कुछ हाथी के मुखवाले देवता, कुछ चार हाथवाले देवता, कुछ आठ हाथवाले देवता होते हैं। यह सारी सृष्टि साहित्यिकों की है, इसलिए आप ही देख लीजिये और चाहे जैसा रूप दीजिये।

(७) 'दान' शब्द क्यों ?

प्रश्न : 'दान' शब्द का इस्तेमाल क्यों किया जाता है ?

उत्तर : शब्दों की एक महिमा होती है। दान एक बड़ा ही पवित्र शब्द है। सामान्य लोग तो शब्दों के रूढ़ अर्थ को ही देखते हैं, लेकिन जो प्रतिभावान् होते हैं, कवि होते हैं, वे शब्दों का मूल ध्यान में लेते हैं, रूढ़ अर्थ नहीं। मूल अर्थ देखा जाय, तो दान एक बहुत पवित्र शब्द है। दान का मतलब उपकार नहीं है। 'दानम् समविभागः' शंकराचार्य ने दान का अर्थ बताया है—'सम्यक् विभाजनम्।' यह अर्थ शंकराचार्य ने भी अपने दिमाग से निकाला है, ऐसी बात नहीं है। उनके पहले भी यह बात थी। बुद्ध भगवान् के नाम पर उनके शिष्यों ने एक बात कही है, जिसमें कहा गया है कि जिसे हम 'दान' कहते हैं, उसे भगवान् बुद्ध 'समविभाग' कहते हैं। 'यं संविभागं भगवा अवण्णी।' लेकिन यह बुद्ध भगवान् की बात थी, ऐसा नहीं है। उनके पहले भी यह बात वेदों में आयी है। वेदों में भाष्यकारों ने लिखा है कि 'दानम् समविभागः' दान माने सतत देते ही रहना चाहिए। आज तो हम लेते ही रहते हैं, लेकिन भगवान् ने हमें हाथ दिये हैं देने के लिए। 'हाथ दिये कर दान रे'

—हाथ छीनने के लिए नहीं दिये हैं। छीनने के लिए तो दाँत और नाखून काफी हैं। इसलिए अगर हाथों से छीनने का काम लिया जाय, तो भगवान् अगले जन्मों में हमें चतुष्पाद प्राणी बनायेगा। इसलिए हाथ तो भगवान् की बहुत बड़ी और पवित्र देन है।

'दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।' हाथ को शोभा दान से है, कंकण से नहीं। इसका मतलब है कि संग्रह में हाथ की शोभा नहीं है। देने में ही शोभा है। इसलिए सतत देते रहना चाहिए। गीता ने कहा है कि यज्ञ, दान और तप, यह त्रि-विषयक्रिया सतत चलनी चाहिए। दान का मतलब 'डोनेशन' नहीं है। दान का मतलब है, धर्म। हिन्दुस्तान में 'दान करो' के बदले 'धर्म करो' भी कहा जाता है। माने, धर्म और दान पर्याय-वाची शब्द हैं। आज उस शब्द का कुछ दूसरा अर्थ रूढ़ हो गया है। परन्तु यह शब्द कमजोर नहीं है। वैसे आज तो कितने ही अच्छे शब्दों को बिगाड़ा गया है; जैसे, वैराग्य। कहते हैं कि किसीको बीवी पर क्रोध आया, तो वह घर छोड़कर निकला और उसको वैराग्य हो गया। लेकिन यह भी भला वैराग्य का कोई लक्षण है? इस तरह हमने शब्दों को भ्रष्ट किया है। लेकिन हमारे पास जो [illegible] शब्द हैं, वे हमारा धन हैं। उनको हम नहीं खोयेंगे। दान का मतलब है, अपने पास जो कुछ है, वह देना और यज्ञ का मतलब है कि अपने पास जो कुछ है, उसे छोड़ना, उसका त्याग करना। यज्ञ और दान—ये दोनों प्रक्रियाएँ समाज में चलती रहनी चाहिए।

(८) [illegible] से ही साहित्य शाश्वत

प्रश्न : कोई भी साहित्य क्या शाश्वत हो सकता है? [illegible] के विकास के साथ जीवन की दृष्टि और अनुभव भी बदलता रहता है। फिर किसी भी युग के अनुभव पर आधृत साहित्य चिरकाल स्थायी कैसे बनेगा?

उत्तर : 'शाश्वत' और 'अशाश्वत' शब्द निरपेक्ष नहीं, मानव की

किसी भी कृति को ये शब्द तारतम्य से लगाने पड़ते हैं। वैसे मानव का कुछ भी शाश्वत नहीं, उसमें का भाव ही महत्त्व का होता है। भाव यह है कि विश्वात्मा का अंश होने से वह शाश्वत है, किन्तु निरपेक्ष अर्थ से उसकी कृति शाश्वत नहीं। फिर भी साहित्य शाश्वत और तात्कालिक, ऐसा भेद किया जाता है।

यह सच है कि समाज बदलता रहता है, फिर भी कुछ बातें नहीं बदलतीं। आज हमारी पोशाक बदल गयी है। प्राचीन ऋषि हमारा रूप देख यह भी नहीं पहचान सकते कि यह हमारी ही परम्परा का मनुष्य है। आज हम उनकी भाषा नहीं बोलते। हमारे जीवन में भी फर्क पड़ गया है। इतना होते हुए भी उस ऋषि का वाक्य हमें रिझाता है, हँसाता है और हमारे काम आता है। कारण, उसमें कुछ अंश ऐसा है, जो कभी नहीं बदलता। यद्यपि शेष जीवन बदलता और विज्ञान-युग में तेजी से बदलता रहता है, पर कुछ अंश ऐसा अवश्य होता है, जो बारहमासी फूलों की तरह सदैव तरोताजा रहता है। इस तरह का मानव का अन्तरभाव, जीवभाव, जो पहले था, आज भी बना हुआ है। जिस साहित्यिक के साहित्य में उसी अंश का प्राधान्येन ग्रहण होता है, वही साहित्य शाश्वत होता है, ऐसा अनुभव है।

'ज्ञानेश्वरी' को आज कितने वर्ष हो गये। उसके बाद कितने ही नवसाहित्य की सर्जना हो चुकी। फिर भी वह मैया आज भी बनी हुई है, पिछड़ नहीं गयी है। याने पहले के लोग जिस तरह उसका अध्ययन करते थे, उससे भिन्न प्रकार से आज उसका अध्ययन होता है।

यद्यपि समाज और जीवन बदलता रहता है, फिर भी कुछ अंश तो न बदलनेवाला हुआ ही करता है। प्राचीन ऋषियों का वेष आपमें नहीं था, वह बदल गया, लेकिन क्या श्वासोच्छ्वास भी बदल गया? हवा की उपयोगिता आज भी पहले जैसी ही बनी हुई है। फर्क इतना ही हो गया है कि पहले के लोग फलाहार करते थे और हम लोग बिस्कुट खाते हैं। लेकिन हवा से आनन्द उन्हें भी होता था और हमें भी होता है, क्योंकि

वह प्राणतत्त्व है। जिसका साहित्य जीवन का यह प्राणतत्त्व लेकर बना हो, उसमें गहरी अनुभूति हुआ करती है और फिर वह अनुभूति ऐसी पकड़ लेती है कि उसका साहित्य शाश्वत बन जाता है।

(९) क्या समाज की उपयोगिता से साहित्य का मूल्यांकन हो?

प्रश्न : कोई भी ध्येय कितना ही अच्छा हो और अखिल मानव-जाति का सर्वांगीण कल्याण एवं उन्नति करनेवाला ही क्यों न हो, फिर भी क्या वह विशिष्ट लक्ष्य सामने रखकर ही उत्तम साहित्य निर्माण किया जाय? क्या मानवीय समाज की उपयुक्तता की दृष्टि से ही साहित्य का मूल्य आँका जाय?

उत्तर : अगर मानवीय समाज की उपयुक्तता को अलग रखकर गदहों के समाज की उपयुक्तता पर ध्यान देते हुए कोई साहित्य लिखता हो, तो मैं उसे ज्ञानदेव से भी उच्च स्थान दूँगा। कारण, यद्यपि भैंसे की पीठ पर मारने से ज्ञानदेव की पीठ पर फफोला आ गया, फिर भी उनके हाथों जो साहित्य निर्माण हो पाया, वह मानव-सापेक्ष ही हुआ। आखिर इस प्रश्न के भीतर यह आशय छिपा है कि साहित्यिक को जिस बात की सहज स्फूर्ति होती है, क्या उसके भी औचित्य-अनौचित्य की परीक्षा की जाय! लेकिन यह प्रश्न ऐसा ही है कि खूब बसौंदी खा लेने के बाद डकार देना उचित है या नहीं? अधिक न खाना उचित था, लेकिन अब खाने के बाद डकार आयेगी ही, पर वह लोगों के कारुण्य का ही कारण बनेगी, इतनी ही बात है। उस बेचारे ने खा ही लिया है। संस्कृत में सहज स्फूर्ति को ही 'उद्गार' कहते हैं। अब अगर आप कुछ खाते हैं और उसकी डकार आये, तो आप उसे रोकेंगे या नहीं? आप साहित्यिक रोयेंगे और हँसेंगे, तो भी साहित्य में ही रोयेंगे और हँसेंगे। मैं आपसे इतना ही कहूँगा कि हँसें, तो भी ऐसा हँसिये, जो सबको अच्छा लगे और रोयें भी, तो ऐसा रोइये, जिसमें सबको समवेदना हो। आप साहित्यिकों को जो सहज वेग, स्फूर्ति

हों, उनके बारे में विवेक कर जो रोकने योग्य हों, उन्हें रोकें और जो न रोकने योग्य हों, उन्हें कभी न रोकें।

(१०) क्या साहित्य का आबाल सुबोध होना आवश्यक है ?

प्रश्न : क्या साहित्य-निर्माण आबाल सुबोध होने का आग्रह रखना उचित है ? क्या सर्वश्रेष्ठ कला-कृतियाँ वैसी होती हैं ?

उत्तर : साहित्यिकों को यह स्वाभाविक शौक ही रहता है कि उनका बोलना बहुतों की समझ में आये। इसलिए जितने अधिक लोगों को वह ग्राह्य होगा, वह जितना ही लोकभोग्य, आकर्षक, समर्पक और योग्य होगा, उतना ही अच्छा है। अगर साहित्य का आकर्षण विशिष्ट लोगों तक ही सीमित रहा, तो मुझे लगता है कि उसमें कला की कमी है। कला के बारे में कुछ कहना कठिन है, लेकिन बचपन की एक बात याद आ रही है। एक गवैया इतना सुन्दर गा रहा था कि लोग ऊब गये ! तब हम लोगों ने यह कहकर कि 'कला ग्रहण करने के लिए कुछ योग्यता होती है', उसे अच्छा संगीतज्ञ करार देकर तथा लोगों को अरसिक बताकर छुट्टी पा ली। लेकिन कोयल चिल्लाती है, तो क्या वह किसीको नापसंद होता है ! छोटे-बड़े सभी को प्रिय लगता है। अगर कोई कला ग्रहण करने के लिए भी बहुत-सा ज्ञान अपेक्षित हो, तो उसे उस कला की न्यूनता क्यों न माना जाय ! आप कला लिख रहे हैं, कोई शास्त्र होता, तो अलग बात थी।

मेरा अपना मत है कि साहित्य का कोई शब्द समझ में आये या न आये, लेकिन उसका भाव सबका चित्त आकृष्ट करे, तो कहा जा सकता है कि उसमें व्यापकता अधिक है। भवभूति से कालिदास की कला अधिक श्रेष्ठ है, यह प्रायः सभी मानते हैं। लेकिन मैं एक कदम आगे बढ़कर कहता हूँ कि कालिदास से भी वाल्मीकि की कला श्रेष्ठ है। कालिदास की कविता किसी बगीचे की तरह सजी-सजायी है, तो वाल्मीकि की रामायण भव्य, महान् जंगल है। जिस तरह दक्षिण के भव्य मन्दिर देख मानव चकित हो उठता है, उसी तरह वाल्मीकि की रामायण पढ़कर मालूम

पड़ता है। कालिदास में उसका अंशमात्र है। यह [illegible] मानते हैं, तो भी कालिदास ने स्वयं मान्य की है। कालिदास ने जो जो अच्छी अच्छी कल्पनाएँ-उपमाएँ कीं, वे सब वाल्मीकि की हैं और उनमें जो गन्दी उपमाएँ दीखती हैं, वे निःसन्देह कालिदास की स्वयं की हैं।

छोटे-बड़े सभी को समझ में आनेवाली वाणी किसीको भी प्राप्त हो, तो वह विनोबा जैसे आस्तिक को और नास्तिक दर्शन को भी पसन्द आयेगी। [illegible] छोटे-बड़े सभी को पसन्द पड़ता है। जिसे यह युक्ति सध जाय, उसीमें कला का [illegible] माना जायगा। फिर शब्द-रचना कैसी की जाय, इस बारे में मैं किसी तरह का बन्धन डालना नहीं चाहता।

इस तरह साहित्यिक की भाषा कैसी हो, यह [illegible] कैसे बताये ? फिर भी मैं इतना ही कहता हूँ कि आपका साहित्य जितने अधिक लोगों को आकर्षक होगा, उसमें उतनी ही अधिक कला मानी जाय।

(११) मानव निसर्ग का तटस्थ दर्शक या उपभोक्ता ?

प्रश्न : कोल्हापुर में आपने स्त्रियों को लक्ष्य कर कुछ बातें कही थीं। उसीके अनुसार यह प्रश्न किया जा रहा है। [illegible] सुसम्बद्धता, सुबद्धता, विकासितता मानव की पहचान है न ? घर सजाना, सुन्दर वेष-भूषा धारण करना, यह सौन्दर्य दृष्टि के कारण ही होता है। इसी दृष्टि से स्त्रियाँ अगर लता से फूल तोड़कर वेणी में लगा लें, तो उसमें क्या दोष हुआ ? भगवान् को चढ़ाने के लिए फूल तोड़ने में दोष नहीं, तो सौन्दर्य-वृद्धि के लिए उनके तोड़ने में दोष क्यों ? क्या यह कहा जा सकता है कि मानव निसर्ग का तटस्थ प्रेक्षक या दूरस्थ रसिक रहे और उपभोक्ता न बने ?

उत्तर : यह बड़ा ही मधुर प्रश्न है। उपभोक्ता बनने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। सिर्फ यही कहता हूँ कि समुद्र के तट पर रहकर सुन्दर आनन्द का अनुभव लें, तो मुझे चल सकता है। समुद्र में कूदकर तैरते हुए आने का आनन्द लेते हों, तो भी मुझे चल सकता है। लेकिन उसमें

गोते मत खाइये, इतना ही मैं कहता हूँ। आनन्द का उपभोग आप पर हावी न हो जाय, आपके जीवन का ही ग्राहक न बन जाय, इतनी ही सावधानी रखिये। इसलिए आप उपभोक्ता यानी अल्प भक्ति बनें, भोक्ता या अतिभोक्ता नहीं।

सुन्दर फूलों का दूर से दर्शन करना सबसे सुन्दर है। उन्हें तोड़कर भगवान् पर चढ़ायें, तो भी चल सकता है। लेकिन उन्हें तोड़ नाक में डालने में मुझे किसी भी प्रकार की सौन्दर्य-दृष्टि नहीं दीखती। फूल को दूर से देखकर उसकी सुगन्ध लेने में जो आदर, नम्रता, विनय, मर्यादा है, वह उसे तोड़ नाक में डालने में नहीं। और वेणी में डालने में तो कतई नहीं। अगर भगवान् की वैसी इच्छा होती, तो वह मानव को वैसी चीज क्यों न देता? उसने शेर के शरीर पर काफी चकत्ते दिये। लेकिन मानव के शरीर पर एक भी चकत्ता हो, तो कुष्ठ माना जायगा। मानव को शेर की तरह सजाने में मधुरता नहीं। मुझे कई बार ऐसा लगता है कि स्त्रियाँ वेणी में फूल पहनती हैं, तो क्या उन्हें अगला जन्म लता का ही मिलेगा? तब भगवान् कहेगा कि अब जितना फूल सिर पर रखना चाहो, रखो।

फूल तोड़कर भगवान् पर चढ़ाने में भी एक प्रकार का अज्ञान और अविकसित दृष्टि ही दीखती है। विकसित दृष्टि यही है कि पेड़ पर ही उसकी स्वयं-पूजा हो चुकी है। उसे देखें और अनुभव करें। एकनाथ को भी एक बार इसी तरह भगवान् को चढ़ाने के लिए तुलसी तोड़ने जाने पर मधुसूदन ही दीख पड़ा था और वे उसे तोड़ न सके। मेरी अपनी यही रुचि है। इसलिए अगर आपको यह समझ में आ जाय कि फूल तोड़कर चढ़ाने में सौन्दर्य-दृष्टि कम है, तो मुझे फूल क्यों पसन्द नहीं, यह आपके ध्यान में आ जायगा। मैं सौन्दर्य-दृष्टि अवश्य चाहता हूँ। वह न हो, तो देश का घात ही होगा। लेकिन उसके साथ सत्य और शिव का भी योग चाहिए।

औरंगाबाद

१७-७-'५८

परिशिष्ट

साहित्य में जीवन की सुगन्ध का अनुभव हो

(दादा धर्माधिकारी)

मामा वरेरकर ने कहा कि साहित्य का निर्माण साधारण मनुष्य के लिए होना चाहिए। उस साधारण मनुष्य के प्रतिनिधि के नाते मैं आप लोगों की सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। साहित्य से मेरा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य से साहित्यिक का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, उसकी अपेक्षा मेरा कुछ अधिक घनिष्ठ और गम्भीर सम्बन्ध है। अधिक घनिष्ठ इसलिए कि मैं साहित्य का निर्माता नहीं हूँ, वाचक हूँ। समालोचक नहीं हूँ, सच्चे अर्थ में ग्राहक हूँ। रस-ग्रहण करनेवाला हूँ। मेरा सम्बन्ध अधिक गम्भीर इसलिए है कि साहित्यिक के जीवन पर, उसके हृदय पर, साहित्य का जितना परिणाम होता होगा, उससे कहीं अधिक उसके शब्दों का मेरे हृदय पर और जीवन पर, एक हृदयवान् पाठक के नाते, परिणाम होता है। 'देयर इज आलवेज ए डिफरेन्स बिटवीन ऐन ईगर मैन वाण्टिंग टु रीड ए बुक ऐण्ड ए टायर्ड मैन वाण्टिंग ए बुक टु रीड।' एक उत्सुक मनुष्य जब एक विशेष पुस्तक पढ़ना चाहता है, तो उसकी भूमिका उस मनुष्य से भिन्न होती है, जो समय काटने के लिए, दिल बहलाने के लिए, कोई भी किताब पढ़ना चाहता है।

विनोबाजी के साथ मैं जेल में था। अगल-बगल में हमारी पट्टियाँ थीं। एक लड़का विनोबाजी से हमेशा कहा करता था कि क्या करें, समय नहीं कटता, जेल में जिन्दगी नहीं कटती! विनोबाजी बहुत साधु

पुरुष हैं—लेकिन कभी-कभी बहुत कटीली बातें कहते हैं—ऐसी बातें, जो गहरी चुभती हैं। विनोबाजी ने दो-चार बार उसकी शिकायत सुन ली। सत्तर गुने सात बार वे सुन नहीं सकते थे। उन्होंने एक दिन कहा कि 'इसका बहुत आसान उपाय है। फाँसी के तख्ते पर टँग जाओ, तो दो मिनट में जिन्दगी कट जायगी।' मैं उन लोगों में से नहीं हूँ, जिन्हें जिन्दगी सजा की तरह काटनी पड़ती है। बल्कि मैं उनमें से हूँ, जो शौक से जीना चाहते हैं। जिन्दगी की रौनक और लुत्फ बढ़ाना चाहते हैं, और हो सके, तो उसकी चमक भी बढ़ाना चाहते हैं। इस प्रकार के पाठक की भूमिका से, बहुत अदब के साथ आप लोगों के चरणों में उस पाठक की गुजारिश लेकर मैं पहुँचा हूँ।

इबसेन के एक नाटक में पीयर गिण्ट कहता है कि मेरी हालत प्याज के जैसी है। छिलके उतारते जाओ, तो उतरते ही जाते हैं। अन्त में कुछ नहीं रह जाता। मैं भी जीवन को समृद्ध और सम्पन्न तो बनाना चाहता हूँ, उसी गरज से साहित्य का रसास्वाद लेता हूँ। परन्तु प्रश्न यह है कि छिलके उतरने के बाद कोई तत्त्व रहेगा या नहीं। इस युग की विभूति न सन्त है, न योद्धा है, न राजा है। यह लोक-युग है। इस युग की विभूति साधारण मनुष्य है। यह साधारण मनुष्य 'मैन ऑन दी स्ट्रीट' कहलाता है—राह चलता इंसान। वह पथिक है, मार्गस्थ है। सोचना यह चाहिए कि उसका कदम किस दिशा में बढ़ रहा है? उसका रुख किधर को है? जो दार्शनिक माने जाते हैं, वे साहित्य से ऊब गये हैं। वे उकताकर कहते हैं कि हमें दूर रखो। सुप्रसिद्ध दार्शनिक हाब्स ने 'लाकलेवन कैसल' में ड्यूक से कहा, "मुझे उस गन्दे कोने से दूर रखो।" 'गन्दे कोने' से उसका मतलब किताबें रखने की जगह से था। उस महान् तत्त्ववेत्ता की तरह मैं ऊबा नहीं हूँ, क्योंकि मैं दार्शनिक नहीं हूँ।

साहित्यिक कहता है कि साहित्य का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता है। मैं उसकी बात मान लेता हूँ, क्योंकि मैं मानता हूँ कि साहित्यिक अपने लिए जो कहता है, वह हमें मान लेना चाहिए। उसके लिए कहने का

अधिकारी दूसरा कोई नहीं है। लेकिन मेरा निवेदन है कि साहित्य का प्रयोजन भले ही न हो, फिर भी उसका परिणाम तो है ही। परिणाम ही न होता, तो अभिव्यक्ति ही नहीं होती। जहाँ दो व्यक्ति न हों, वहाँ भाषा की प्रतीति ही नहीं होती, शब्द के लिए अवकाश ही नहीं होता। शब्द की अभिव्यक्ति से परिणाम होता है। मेरा मानना है कि दुष्ट-से-दुष्ट और हीन-से-हीन मनुष्य की वाणी में भी शक्ति है।

दुर्भाग्य यह है कि आज मनुष्य के जिस शब्द में शक्ति है, वह अपशब्द है, अशुभ वाणी है। महाराष्ट्र में विवाहित स्त्रियों को आशीर्वाद देते समय 'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव' कहने की प्रथा है। जब एक बुजुर्ग ने एक नूतन विवाहिता को यह आशीर्वाद दिया, तो लड़की सहम गयी! उसका चेहरा मुरझा गया। उसकी सहेली उससे कहने लगी, डरती क्यों हो? उनके कहने से थोड़े ही कुछ होगा! वे बुजुर्ग और तीर्थस्वरूप हुए, तो क्या हुआ? उनके आशीर्वाद में कोई शक्ति भी है? आशीर्वाद में शक्ति नहीं है, तो शक्ति किस शब्द में है। गाली में शक्ति है। गाली चुभती है, चोट करती है। कोई आपको गाली देता है, तो आप तिलमिला उठते हैं। क्योंकि गाली के पीछे मनुष्य की सम्पूर्ण भावना होती है, जो उसके मंगल वचन में नहीं होती है। मैं तपस्या की बात नहीं कर रहा हूँ। मुझे मालूम नहीं, तप में शक्ति है या नहीं है। वह तो विनोबा ही कह सकते हैं। वे कहते हैं कि जो वाचाशुद्ध होता है, वह वाचासिद्ध होता है। वैसे वे स्वयं हैं। परन्तु मेरी यह निष्ठा है कि मनुष्य के हृदय की सम्पूर्ण भावना जिस शब्द के पीछे होती है, उस शब्द में शक्ति होती है।

सितार से जो 'बोल' निकलते हैं, वे कलाकार की कला के द्योतक होते हैं। तबले से जो 'बोल' निकलते हैं, वे तबलची की वादनपटुता के द्योतक होते हैं। तलवार के हाथ योद्धा के कौशल के द्योतक होते हैं। कलम से जो शब्द निकलते हैं, वे साहित्यिक के पिण्ड के द्योतक होते हैं। उनसे पता चलता है कि उसकी विभूति किस द्रव्य की है। यह साहित्य

और कला का परिणाम है, प्रयोजन नहीं। क्या प्याज इसीके लिए बना था कि सब तरफ उग्र गन्ध फैलाये? क्या गुलाब इसीलिए पैदा हुआ था कि चारों ओर परिमल फैलाये? दोनों का अस्तित्व निर्हेतुक है। परन्तु दोनों के अस्तित्व के दो भिन्न-भिन्न परिणाम हैं।

साहित्य बाजार में नहीं आता, तो अलग बात थी। साहित्य की अभिव्यक्ति ही नहीं होती, तो भी अलग बात थी। लेकिन आज आपका साहित्य युगधर्म के अनुसार बाजार में बैठा है। आज का जमाना 'मार्केट ओरियेन्टेशन', पण्य-संस्करण का है। सबसे बड़ा साहित्यिक कौन है? 'हू इज परपेचुअली इन डिमांड'—जिसकी बराबर माँग हो, वही सबसे बड़ा है। हर साहित्यिक के पीछे 'प्राइस टैग' लगा है, कीमत की चिप्पी लगी है। मैं साहित्यिक को दोष नहीं दे रहा हूँ। जब तक मनुष्य के उदर है, तब तक साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, सबका सम्बन्ध उदर के साथ कुछ-न-कुछ रहेगा। प्रार्थना इतनी ही है कि वे सब जठराग्नि में जलकर भस्मसात् न हों। जहाँ भूख का प्रकोप होता है, वहाँ मनुष्य की कला, उद्योग, साहित्य, संस्कृति, धर्म, पराक्रम, सब जठराग्नि की आहुति बनकर भस्मीभूत हो जाते हैं! यह वास्तविकता है, वस्तुस्थिति है।

महात्माजी और गुरुदेव में एक बार बड़ी मधुर चर्चा छिड़ गयी। गुरुदेव ने कहा, "गांधी, क्या तुम अरसिक हो? सबेरे जब यह बाल सूर्य आकाश में उदित होता है, तब क्या उसकी लालिमा देख तुम्हारी तबीयत नहीं फड़कती! जब ये पक्षी चहचहाने लगते हैं, तो क्या उनके गुंजगान से तुम्हारे हृदय की तन्त्री नहीं बजती? जब उद्यान में गुलाब खिलता है, तब उसे देखकर तुम्हारी रूह सुर्ख नहीं हो जाती?" गांधीजी ने कहा, "गुरुदेव, न तो मैं ऐसा स्थितप्रज्ञ और न ऐसा संवेदनाहीन, जड़ ही हूँ कि इस गुलाब की सुन्दरता और सूर्य की आभा देखकर, पक्षियों का दिव्य नैसर्गिक संगीत सुनकर मेरे हृदय में कहीं कोई कोमल भाव जाग्रत न हो। लेकिन क्या करूँ, एक तमन्ना, एक अरमान, एक आकांक्षा है कि इन गुलाब के फूलों का रंग किस दिन भारत के भूखे, नंगे लोगों के

गालों पर देखूँगा ? उन पक्षियों के कण्ठ की मधुर ध्वनि उन भूखों की कराह की जगह कब सुनूँगा ? ऐसा संगीत [illegible] मानव के कण्ठ से कब निकलेगा ? वह दिन कौन-सा होगा, जिस दिन नवोदित सूर्य की आभा भारतवर्ष के साधारण मनुष्य के हृदय को आलोकित करेगी ? उसकी दीप्ति, कान्ति, उसकी मुखचर्या पर प्रकट होगी ?"

यह एक अनूठी कला है। एक निराली रसिकता है। हमें साहित्यिक सम्प्रदायों से मतलब नहीं है। हम फ्राइड के 'होमो सायकालाजिकस' (मनःप्रधान मानव) को नहीं जानते, हम मार्क्स के 'होमो इकानामिकस' (अर्थस्य पुरुषो दासः) को नहीं पहचानते। हम बुद्धिवादियों के 'होमो सेपीयन' (बुद्धिप्रधान मानव) से भी वाकिफ नहीं हैं। गांधी की रसिकता एक सामान्य समन्वित मानव की, साबित इन्सान की, रसिकता है। साबित इन्सान ही खालिस इन्सान है। उसे मतलब जिन्दगी के जायके से है। वह जीने में मशगूल होता है। मैं मानता हूँ कि यही यथार्थ वैज्ञानिकता है।

साहित्य में वस्तु-निष्ठा है, जीवन-निष्ठा है और साथ-साथ लोक-निष्ठा भी है। साहित्य जब मनुष्य और सृष्टि का स्पर्श करता है, तो जड़ वस्तु जड़ नहीं रह जाती और मनुष्य निरा मानवीय प्राणी नहीं रह जाता !

गंगा और टेम्स का पानी युग-युग से बहता रहा है। क्या पुराने जमाने के कवि गंगा में नहीं नहाते थे ? क्या उसके पानी से अपनी प्यास नहीं बुझाते थे ? क्या वे नहीं जानते थे कि यह पानी हाइड्रोजन और आक्सीजन के मेल से बना है ? लेकिन आदिकवि ने क्या कहा ? 'मातः शैलसुतासपत्नि वसुधाशृंगारहारावलि।' प्रयोगशाला में वैज्ञानिक ने जो पानी देखा, उसे वाल्मीकि 'स्वर्गारोहणवैजयन्ति' कहता है। कालिदास ने हिमालय को लक्ष्य करके कहा कि यह तो पृथ्वी का मानदण्ड है। 'स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।' वह कवि की सृष्टि की तरफ देखने की दृष्टि की ओर संकेत कर रहा है। विज्ञान-विमुख कला न हो और कला-विमुख विज्ञान न हो। कवि देवदारु वृक्ष के विषय में कहता है, 'पुत्री-

कृतोऽसौ वृषभध्वजेन।' किस रसिक ने अपने गुलाब के पौधे को पुत्रवत् प्यार नहीं किया है? वाशिंगटन के पिता ने क्या अपने 'चेरी ट्री' को दुलार से नहीं पाला-पोसा था? शकुन्तला विदा होने लगी, तो कण्व उन वृक्षों से बोला, "इसे फूलों का बहुत शौक था, लेकिन तुम्हें कष्ट होगा इसलिए, आभूषण प्रिय होने पर भी, तुम्हारा वह एक पत्ता भी नहीं तोड़ती थी। तुम्हारे लिए उसके हृदय में इतना प्रेम था।" यह कोई तुलसी के पौधे की बात नहीं है, सामान्य पौधे की बात कही जा रही है। कवि की दिव्य दृष्टि के लिए 'सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः'—सारे कल्पवृक्ष ही हैं। इससे जीवन की सुगन्ध दश दिशाओं में फैलती है। हर मनुष्य सौरभ से आनन्दित होता है।

साहित्य में हम जीवन की सुगन्ध का अनुभव करना चाहते हैं। जीवन की प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं। साहित्यकार मृत्यु का भी गायन करे, तो जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही करे। इस मृत्युलोक की यह विशेषता और यह वैभव है कि यहाँ मृत्यु भी जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उसका अनुचर बनकर आया है। मृत्यु है, इसलिए जीवन की महिमा है। जहाँ मृत्यु न हो, वहाँ जीवन का क्या मूल्य है?

शान्ति, तुष्टि और पुष्टि, ये जीवन के तीन आयाम हैं। उनमें से कई सम्प्रदाय बनते हैं। साहित्यिकों में भी अलग-अलग सम्प्रदाय बने हैं। एक-एक सम्प्रदाय को लेकर साहित्य निर्माण हुआ है। मेरा निवेदन है है कि साहित्य का कोई सम्प्रदाय नहीं हो सकता। सदस्यता मानवता को परिमित ही नहीं करती, सीमित ही नहीं करती, बल्कि संकीर्ण भी करती है। सदस्यता आर्थिक क्षेत्र में काफी उपद्रव कर चुकी है, राजनैतिक क्षेत्र में सदस्यता की धूम मची हुई है। धर्म के क्षेत्र में भी वह कहर ढा रही है। मेहरबानी कीजिये और अब उसका प्रवेश, उसका अशुभ पदार्पण, शारदा के पवित्र मन्दिर में मत होने दीजिये। सदस्यता परिमित है, मानवता व्यापक है। साहित्य मानवव्यापी होता है।

टॉल्स्टॉय की रचनाएँ हमारे हृदय को स्पर्श करती हैं। अज का

विलाप यदि हमारे हृदय को स्पर्श करता है, तो डिकन्स की नेल की मृत्यु का करुण प्रसंग भी हमारे हृदय का स्पर्श करता है। विश्व-साहित्य के 'पंचतन्त्र' और 'ग्रिम्स फेयरी टेल्स' से लेकर अद्यतन उपन्यास और नाटकों के पात्र हमारे लिए उतने ही सजीव और वास्तविक हैं, जितना कि कोई भी जीवित व्यक्ति। बल्कि उससे भी अधिक जीवित और वास्तविक। यह साहित्य का मानवव्यापी विशिष्ट धर्म है।

रसिकता प्रामाणिकता में, आत्मौपम्य में है। साहित्यिक केवल दर्शक नहीं है। जब वह नृत्य देखता है, तो उसके लिए नर्तकी और नर्तक के विषय में आत्मीयता होती है। उन्हें वह अपने उपभोग या मनोविनोद के उपकरण नहीं मानता। आज का हमारा जीवन 'स्पूरियस' है, 'वायकेरियस' है। नकली है, परप्रत्ययनिर्भर है। वह जीवन नहीं, जीवन का अभिनय मात्र है। दूसरों की मार्फत हम जीते हैं। यही कारण है कि साहित्य से प्रेरणा, स्फूर्ति और कान्ति उठ गयी है। रवि ठाकुर के 'डाकघर' में जो कवि बाँस के जंगल में से निकली हुई ध्वनि की तुलना श्रीकृष्ण की मुरली से करता है, वही कवि जब शाम के वक्त डाकघर से बाजार जाता है, तो बाँस से निकली हुई ध्वनि उसे ऐसी लगती है, मानो भूत सीटी बजा रहा हो।

सृष्टि का स्पर्श जहाँ होता है, वहाँ साहित्यिक की आत्मा नृत्य करने लगती है। सृष्टि को जो उपकरण नहीं, अपने उपभोग का विषय नहीं, बल्कि जीवन की स्वतन्त्र विभूति मानते हैं, वे विज्ञान को शिवं और सुन्दरम् बनाकर धन्य तथा दिव्य बनाते हैं। यह शक्ति सिवा साहित्यिक के और किसीमें नहीं है।

साहित्य का सन्देश सिर्फ मानवव्यापी ही नहीं, विश्वव्यापी है। विज्ञान चन्द्रमा तक राकेट भेज सकता है, लेकिन कवि के काव्य में रमणी-मुख को चन्द्रमा से उपमा देकर उसकी सुन्दरता का गौरव किया जाता है। वह वैभव, वह शक्ति, न विज्ञान में है, न अध्यात्म में है।

शान्ति, तुष्टि और पुष्टि, जीवन के ये तीन आयाम सर्वमान्य हो

गये हैं। विनोबा और दो आयामों का स्मरण हमें दिलाते हैं—'सुमांगल्यं, सौमनस्यं चास्तु।' सुमांगल्य और सौमनस्य का सन्देश एक पवित्र प्रेरणा है। यह सन्देश अध्यात्म से नहीं आता, क्योंकि अध्यात्म सम्प्रदायों में बिखर गया है। शान्ति, पुष्टि, आर्थिक संयोजन से निष्पन्न हो सकती है। परन्तु वहाँ भी साम्प्रदायिकता ने उत्पात किया है। शान्ति राजनैतिक सुप्रबन्ध से सम्पन्न हो सकती है। लेकिन वहाँ तो पक्षवाद का प्रकोप है। इसलिए हम साहित्यिकों से आशा करते हैं। उपनिषद् का अभिवचन है—'अन्नमयं हि सोम्यमनः, आपोमयाः प्राणाः, तेजोमयी वाक्।' मनुष्य का तेज उसकी वाणी में प्रकट होता है। वह तेज हृदय की भावना से आता है, जीवन की प्रतीतियों से उत्पन्न होता है। ये प्रतीतियाँ जितनी व्यापक और उदात्त होंगी, उनका आशय जितना भव्य और सुन्दर होगा, उतना ही सुमांगल्य और सौमनस्य सिद्ध होगा।

सुकरात, ईसामसीह जैसे उद्धारकों का उनके जमाने के लोगों ने क्यों विरोध किया? उन्हें क्यों मार डाला? यह जब मैंने विनोबाजी से पूछा—यह हमारी आपस की गपशप थी—तो उन्होंने कहा कि ऐसा नहीं होता, तो और क्या होता? जो सामने आया, उसे 'वो अन्डु दी, वो अन्डु दी' ('तू अभागा है! तू अभागा है!') कहकर ईसा कोसता गया, तो लोग उसे मार डालने पर उतारू हो गये। ये लोग सत्यनिष्ठ थे। लेकिन 'सत्यं मनोहारि च दुर्लभं वचः।' वे भूल गये कि सत्य मनोहारी भी होना चाहिए। बरनार्ड शॉ ने 'बैक टु मैथुसला' के उपसंहार में लिखा है कि अपनी बात साहित्यिक की तरह कलात्मक, रुचिकर ढंग से बताना ये क्रांतिकारी जानते होते, तो सूली पर न चढ़ते। एक ज्योतिषी ने राजा का हाथ देखकर कहा कि 'आपके स्वजन आपके सामने मर जायेंगे।' तो, उस पर कोड़े पड़े! दूसरे ज्योतिषी ने कहा कि 'आपकी जन्मपत्री में ऐसा विलक्षण योग है कि जो किसीकी भी जन्मपत्री में नहीं था। आपके समूचे राज्य में आपकी आयु सबसे दीर्घ होगी!' वस्तुकथन में अन्तर नहीं था, लेकिन कथन की शैली में इतना अन्तर

था कि एक को कोड़े मिले और दूसरे को अशर्फियाँ ! इसका नाम शैली है। यह वास्तविकता को सुन्दरता से सम्पन्न कर आकर्षक बना देती है।

जीवन के आनन्द में भी गम्भीरता है। कम्युनिस्टों ने एक दफा उनके एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का मुझे अध्यक्ष बनाया। उन्होंने कहा कि मनुष्य की विभूति का जो ढाँचा हमने बनाया है, उसे लोगों तक पहुँचाने का यह हमारा साधन है, उपकरण है। मैंने उनसे पूछा कि क्या इसमें मनोरंजन नहीं है ? उन्होंने कहा कि मनोरंजन तो है, लेकिन मुख्य उद्देश्य है एक विशिष्ट मानवीय आकृति का प्रचार। इसे वे सांस्कृतिक कार्यक्रम कहते हैं। मनोरंजन भी संजीवन और सांस्कृतिक विकास के लिए होना चाहिए। एक दफा मैं सिनेमा देखने गया था, तो किसीने पूछा कि दुर्गा खोटे का अभिनय कैसा लगा ? मैंने कहा कि वह तो हरिश्चन्द्र-तारामती का सिनेमा था, उसमें दुर्गा खोटे कहाँ थी ? पूछनेवाले ने कहा कि तारामती का अभिनय करनेवाली दुर्गा खोटे थी। मैंने कहा कि तारामती की जगह दुर्गा खोटे को देखना होता, तो हम वहाँ क्यों जाते ? उसे बाहर ही देख लेते ! जो सिनेमा में जाकर भी तारामती की जगह दुर्गा खोटे को देखता है, वह कलावित् नहीं है, रसिक भी नहीं है, और, आप मुझे माफ करें तो, वह सभ्य मनुष्य भी नहीं है।

मनुष्य की संस्कृति की इस बात से परीक्षा होती है कि वह अपने मनोरंजन के लिए किन-किन साधनों को चुनता है। मनुष्य के मनोरंजन के जो साधन होते हैं, वे उसकी संस्कारिता के द्योतक होते हैं।

मैंने शुरू में ही निवेदन किया था कि रसिक वाचक समालोचक नहीं होता। वह स्वयं साहित्यकार न होते हुए भी साहित्य का आस्वाद आनन्द के लिए भी गम्भीरतापूर्वक लेता रहता है। उसी साधारण वाचक को आकांक्षा, अपेक्षा, साहित्यिकों के चरणों में मैंने निवेदन की है।

सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

धम्मपदं	२'००
गीता-प्रवचन १'२५, सजिल्द	१'५०
संस्कृत गीता-प्रवचन	१'२५
शिक्षण-विचार	२'५०
आत्मज्ञान और विज्ञान	१'००
सर्वोदय-विचार स्वराज्य-शास्त्र	१'००
ग्रामदान	१'००
लोकनीति	१'२५
मोहब्बत का पैगाम	२'५०
स्त्री-शक्ति	१'००
भूदान-गंगा [छह खंड] प्रत्येक	१'५०
ज्ञानदेव-चिन्तनिका	१'००
शान्ति-सेना	०'७५
कार्यकर्ता-पाथेय	०'५०
गुरुबोध	१'५०
त्रिवेणी	०'५०
साम्य-सूत्र	०'३८
जय जगत्	०'५०
सर्वोदय-पात्र	०'२५
एक बनो और नेक बनो	०'१३
कार्यकर्ता क्या करें ?	०'७५
शुचिता से आत्मदर्शन	०'४०
राम-नाम : एक चिन्तन	०'३०
समग्र ग्राम-सेवा की ओर [दो खंड]	३'५०
,, ,, [तीसरा खंड]	२'५०
बुनियादी शिक्षा-पद्धति	०'६०
संपत्तिदान-यज्ञ	०'५०
व्यवहार-शुद्धि	०'३८
गाँव-आन्दोलन क्यों ?	२'५०
गांधी-अर्थ-विचार	१'००
स्थायी समाज-व्यवस्था	२'५०
ग्राम-सुधार की एक योजना	०'७५
सर्वोदय-दर्शन	३'००
दादा की नजर से लोकनीति	०'५०
सत्य की खोज	१'५०
माता-पिताओं से	०'३८
बोलती घटनाएँ [पाँच भाग] प्रत्येक	०'५०
बालक सीखता कैसे है ?	०'५०
बाबा विनोबा [छह भाग] प्रत्येक	०'३०
प्यारे भूले भाइयो ! [पाँच भाग] प्रत्येक	०'३०
सर्वोदय की सुनो कहानी [पाँच भाग]	१'२५
कुलदीप [नाटक]	०'२५
एक भेंट [नाटक]	०'६२
प्रायश्चित्त [नाटक]	०'२५
चन्द्रलोक की यात्रा [नाटक]	०'२५
स्वामित्व-विसर्जन [नाटक]	०'३०
नव-प्रभात [नाटक]	१'००

एक सहारा [नाटक]	०·३०
बापू की प्यारी तकली	०·१३
बापू के जीवन में प्रेम और श्रद्धा	०·३०
गांधीजी की गृह-माधुरी	०·३०
सफाई : विज्ञान और कला	०·७५
सुन्दरपुर की पाठशाला	०·७५
बच्चों की कला और शिक्षा	८·००
हमारा राष्ट्रीय शिक्षण	२·००
नक्षत्रों की छाया में	१·५०
यात्रा के पथ पर	०·५०
किशोरलालभाई की जीवन-साधना	२·००
मेरी विदेश-यात्रा	०·६२
गुजरात के महाराज	२·००
जाजूजी : जीवन और साधना	१·२५
अन्तिम झाँकी	१·५०
गांधी : एक सामाजिक क्रांतिकारी	०·३८
अफ्रीका में गांधी	१·००
आगे का कदम	०·७५
गो-सेवा की विचारधारा	०·५०
गो-उपासना	०·२५
घर-घर में गाय	०·२५
गो-सेवा गोष्ठी	०·५०
समाजवाद से सर्वोदय की ओर	०·३८
वर्ग-संघर्ष	०·६२
एशियाई समाजवाद	१·५०
लोकतांत्रिक समाजवाद	१·५०
ग्रामराज क्यों ?	०·३८
विश्वशान्ति क्या संभव है ?	१·२५
अहिंसात्मक प्रतिरोध	०·५०
गांधी और विश्वशांति	०·६०
मानवता की नवरचना	२·००
महादेवभाईकी डायरी [दो भाग]	५·००
चम्बल के बेहड़ों में	२·५०
चलो, चलें मँगरौठ	०·७५
भूदान-गंगोत्री	२·५०
सर्वोदय-विचार	०·७५
सर्वोदयका इतिहास और शास्त्र	०·२५
सर्वोदय-संयोजन	१·००
शोषणमुक्ति और नव-समाज	०·६२
गांधीजी क्या चाहते थे ?	०·५०
श्रम-दान	०·२५
धर्म-सार	०·२५
स्थितप्रज्ञ-लक्षण	०·२५
ऐसा भी क्या जीना ! [उपन्यास]	२·००